सोमसी

7/10/80

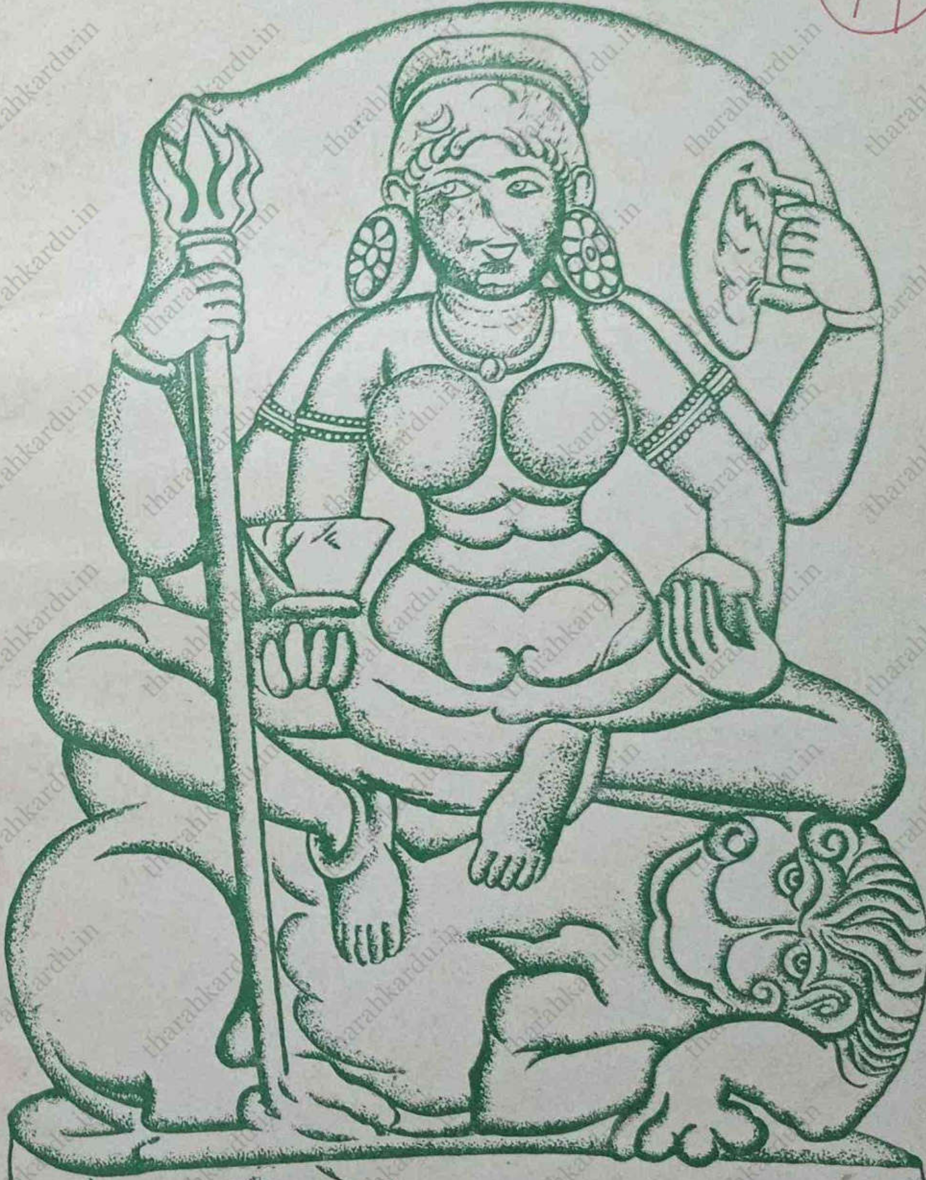

सोमसी

हिमाचल-कला, संस्कृति और भाषा अकादमी की त्रैमासिक पत्रिका

वर्ष 12 जुलाई/अक्तूबर, 1986 अंक 3 4

सम्पादक
डॉ० बंशीराम शर्मा

सहायक सम्पादक
सरोज सांख्यायन

आवरण
ओम सुजानपुरी

47–48

जनवरी, अप्रैल, जुलाई व अक्तूबर में प्रकाश्य

लेखक द्वारा दिए गए तथ्यों तथा विचारों से सम्पादक की सहमति आवश्यक नहीं।

वार्षिक सदस्यता शुल्क : 12.00 रुपए एक प्रति : 6.00 रुपए

हिमाचल-कला, संस्कृति और भाषा अकादमी

क्लिफ़ एण्ड एस्टेट, शिमला-171 001

सोमसी जुलाई/अक्तूबर 1986

इस अंक में

पृष्ठ	लेख	लेखक
१	हिमाचल के लोक वाद्य	ईनाक्षी महाजन
१७	लाहुल की धार्मिक एवं सांस्कृतिक पष्ठभूमि	प्रो० डी० डी० शर्मा
२७	महासूई लोक गीतों में सामाजिक चित्रण	श्रीदत्त शर्मा
३३	हिमाचल प्रदेश की प्राचीन रियासत : नूरपुर	डॉ० कोमल कुमार कोहली
३७	भंगाल रियासत : इतिहास के वातायन से	देवेन्द्र कश्यप
४०	कांगड़ा में गद्दी जीवन	डॉ० युगल किशोर डोगरा
४४	डंडारस एक विश्लेषणात्मक अध्ययन	कमल प्रसाद शर्मा
५२	पौंग बान्ध में जलमग्न हुई सांस्कृतिक निधियां	डॉ० वेद प्रकाश अग्नि
५७	प्रेम सेतु लामण	शर्मा नन्द श्रवण
६४	कुल्लू के विवाह गीत और लोकाचार	ऊषा
८८	हिमाचल प्रदेश के लोक गीतों में हमारे रिश्ते नाते	रत्न चन्द "निर्झर"
९८	चम्बा के कुछ लोक गीत	प्रेम कुमार शर्मा
१०७	किस्सा रानी किरणमयी	जगदीश चन्देल
१११	हिमाचल प्रदेश का शिल्प	खेमराज गुप्त 'सागर'
११४	विचित्र पौराणिक सांस्कृतिक मन्दिर : शारदा	रजनी बाला धींगड़ा
११६	चम्बा चित्रकारी : एक पहचान	नरेन्द्र अरुण
१२२	नूरपुर—डमटाल के भित्तिचित्र	डॉ० राम स्वरूप पल्लव
१२८	ओबड़ी शिवद्वाला—चम्बा के भित्तिचित्र	विजय कुमार शर्मा
१३१	किन्नर कैलाश के आंचल में स्थित बौद्ध गोम्पा	छोरिंग डुगे ठाकुर
१३४	अर्की जनपद के मेले	शंकर लाल शर्मा

सम्पादकीय

हिमालय भगवान शिव का निवास स्थान है। वे कैलाश पर्वत पर पार्वती सहित न जाने कब से तपस्यारत हैं। इस पर्वतराज ने एशिया महाद्वीप की संरचना करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की अनेक परतें अभी तक इस पर्वत के सुदूर तथा दुर्गम क्षेत्रों में शोधकर्ताओं के लिए चुनौति हैं।

हिमाचल के प्रमुख देवता शिव हैं। लोकधारणा के अनुसार वे मणिमहेश तथा किन्नर कैलाश पर्वत शृंगों पर निवास करते हैं। स्पष्ट है कि यहां के लोक-मानस में शिवजी व पार्वती के लिए अगाध श्रद्धा है और ग्रामदेवताओं के रूप में अनेक प्रकार से उनकी पूजा के विधान हैं। मन्दिर भगवान के घर हैं जिनमें वे व्यक्त तथा अव्यक्त रूप में विद्यमान रहते हैं। सुख सौभाग्य की प्राप्ति पापों से छुटकारा पाने तथा मनोकामना की पूर्ति के लिए श्रद्धालु इन्हीं मन्दिरों में शरण पाता है। मानव ने सामूहिकता की भावना इन्हीं मन्दिरों के माध्यम से अर्जित की है। गांव में स्थित भगवान के घर को सजाने, संवारने, देवता की पूजा-अर्चना करने तथा देवकार्य के द्वारा अपने कष्टों को कम करने के लिए प्रत्येक गांववासी लालायित रहता है।

इद प्रदेश में गुम्बद वाले, ऊंची छतों वाले, ढलवां छतों वाले, दुमंजिले, तिमंजिले अथवा इससे भी अधिक मंजिलों वाले, पैगोडा प्रकार के, सपाट छत वाले, कलशों वाले, शिखर शैली के तथा जुड़वा छतों वाले मन्दिरों के अतिरिक्त विशिष्ट शैली के बौद्ध मन्दिर भी विद्यमान हैं। गुगा की माड़ियां अलग ही प्रकार के मन्दिर हैं जिनमें दीवारें लगाने का प्रचलन प्रायः नहीं है। सिद्ध स्थान पवित्र पत्थरों पर माने जाते हैं। नाहरसिंह देवता पीपल के वृक्ष अथवा घर के किसी कमरे में एक छोटी सी टोकरी में पूजा जाता है।

शिवजी को महेश्वर, महासू, महाकाल, भैरव, नाग, रुद्र, भोलेनाथ, महादेव, त्रिलोक नाथ, षण्मुखेश्वर, बीजटराज, अर्द्धनारीश्वर आदि अनेक नामों से पूजा जाता है। कुल्लू में बिजली महादेव, मंगलेश्वर महादेव, जम्लू, आदि ब्रह्मा, मनु, पराशर, हिड़िम्बा, बूढ़ा महादेव, परशुराम, दक्षिणी महादेव, गड़ा दुर्गा, अम्बिका, रघुनाथ, गौतम, जगतीपट आदि प्रसिद्ध मन्दिर हैं। लाहुल में त्रिलोकनाथ, मृकुला देवी, राजा गेपङ्, हिड़िम्बा, नाग, अठारह नाग आदि, किन्नौर से सुंगरा, कफौर, भाबा, चगांव के मन्दिर, कामरू का रघुनाथ, चीनी का नारायण, सांगला व सापनी के नाग मन्दिर तथा निचार का ऊषा देवी मन्दिर सिरमौर में शिरगुल, बीजटराज, गण देवता, हमीरपुर में नर्वदेश्वर, गोसाईं महादेव, बिलासपुर में षण्मुखेश्वर, भोले शंकर, मण्डी में अर्द्धनारीश्वर, पंचवक्तर महादेव, त्रिलोकनाथ, शिमला में कोटेश्वर, रुद्र, बीजट, माननेश्वर, खण्डेश्वर महादेव तथा जुनगा महेश्वर आदि मन्दिर प्राचीन तथा प्रसिद्ध हैं। वज्रेश्वरी, ज्वालामुखी, भीमाकाली, चण्डिका, हाटेश्वरी, चामुण्डा, बगलामुखी, नयनादेवी, हिड़िम्बा, मिन्धलदेवी, महिषासुर मर्दिनी, मृकुला, कामाक्षा, अम्बिका, जालपा, हिड़िम्बा, काली, नागिन आदि देवी मन्दिर इन्द्रूनाग, वासुकि नाग, कुल्लू के अठारह नागों के मन्दिर, रुद्रू नाग, कलिहर नाग, गोली नाग, गूगा जाहरपीर आदि नाग मन्दिर तथा गोन्पाओं में ताबो, रिब्बा, नाको, रिवालसर, चांगो, चारंग, हांगो, जंगी, रारंग, लिप्पा, कानम, सूरंग, टशिगङ्, हंसा, डंगखर, की, किब्बर, ताशुल, गुरुघंटाल, गेमूर, गोन्धला, लफरंग, तिनन, कारदंग, शाशुर, लाहलुन आदि ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण देव स्थान हैं।

इन मन्दिरों तथा गोन्पाओं के सम्बन्ध में अनेक किम्वदन्तियां तथा ऐतिहासिक अवधारणाएं जनमानस में प्रचलित हैं। कुछ सामग्री यत्र-तत्र प्रकाशित भी हुई है परन्तु अभी तक इस सम्बन्ध में समेकित तथा वैज्ञानिक रूप से 'देव इतिहास' लिखने के प्रयत्न नहीं हुए हैं। इस प्रकार के प्रयासों की आवश्यकता सामाजिक तथा वांछनीय है। सोमसी के अगले अंकों में इस दिशा में संकलित सामग्री को प्रकाशन के लिए प्राथमिकता दी जाएगी।

—बंशीराम शर्मा

हिमाचल के लोक वाद्य

—ईनाक्षी महाजन

यद्यपि गीत वाद्य तथा नृत्य तीनों मिलकर संगीत कहलाते हैं और मानवकंठ द्वारा स्वर परिवर्तन और काव्य का उपयोग 'गायन को सर्वोपरि बना देते है' तथापि तीनों में वाद्य को ही अन्य दो का सहारा नही लेना पड़ता। गीत और नृत्य दोनों ही दूसरों पर आश्रित है—गायन काव्य पर और नृत्य लय ताल के लिए वाद्यों पर लालमणि मिश्र के अनुसार 'वाद्यकला गान तथा नृत्य की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और अकृत्रिम आनन्द प्रदान करने वाली होती है।' भले ही यह समझने में कठिन हो परन्तु कर्ण प्रिय और अभिव्यक्ति की दृष्टि से अधिक व्यापक क्षेत्र वाली है। स्वर तथा लय का जो आनन्द वाद्यों से मिल सकता है वह अन्यत्र नहीं।

भारत के लोक संगीत को समझने के लिए यहां के वाद्यों के विषय में जानना अत्यावश्यक है। यूं तो वाद्य, गायक के अनुहारी होते हैं तथापि वे गायक की क्षमता के परिचायक और उसको बढ़ाने वाले होते हैं। काव्य संगीत में भावों की अभिव्यक्ति के लिए व्यापक क्षेत्र प्रदान करता है वहां संगीत की दृष्टि से रचना को अपने बूते पर आगे बढ़ाने में बाधक है। कराठ संगीत, नृत्य और नाट्य वाद्यसंगीत के संहयोग के बिना अपनी परिपूर्णता को प्राप्त नही कर सकते।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति के लिए संगीत को आर्चाय शारदेव ने एकमात्र साधन बताया है।, भारतीय दार्शनिको ने जहां कला द्वारा भौतिक आनन्द को पहचाना वहां उसको मानव जीवन के चरम लक्ष्य मुक्ति का भी साधन बतलाया। इस कारण मानव जीवन के सभी पहलुओं में संगीत का महत्वपूर्ण स्थान है आचार्य भरत के अनुसार विवाह उत्सव, पुत्र जन्म, युद्ध तथा अन्य संस्कारों के समय वाद्यों का बजाना कल्याणकारी है। यही विचार धारा हिमाचल के लोक संगीत की आधार-शिला है। हिमाचल का कोई उत्सव मेला या वैयक्तिक संस्कार बिना लोकवाद्यों के प्रयोग के अधूरा गिना जाता हैं। वाद्य चाहे एक हों या दों या तीन और किसी भी गुण के हों, उनका प्रयोग उनसे संबधित समय के अनुसार एक निश्चित संकेत विशेष और वस्तुस्थिति को श्रोतायों तक पहुंचा

दता है। वाद्यों का प्रतीक के रूप में प्रयोग विश्व भर में अनादि काल से हो रहा है। लोक वाद्यों के विषय में यह कथन तो और भी सार्थक है। सामाजिक धार्मिक और कला की दृष्टि से लोकवाद्यों का महत्व अत्यन्त व्यापक है।

वर्गीकरण सिद्धान्त के अनुसार हिमाचल के वाद्य भी चार प्रकार तत्त, सूषिर, घन और अवनद्ध वर्गों में वर्गीकृत किए गये हैं। प्रदेश में उपलब्ध वाद्य निम्नलिखित हैं

तत्त वाद्य (1) एक तारा (2) सारंगी (3) किकारा (4) जुमङ (5) ग्राम्यडग (6) ड्मजणयागोवो (7) अयालिंग।

सुषिर वाद्य (1) रणसिंघा (2) करनाल (3) बांसुरी अथया दुर्ग विशड़ी (4) शहनाई (5) लगोजू अयवा अलगोजा (6) तूरी (7) शंख।

घनवाद्य (1) झांज (2) मंजीरा (3) खडताल (4) चिमटा (5) घराटा (6) घड़ियाल (7) थाली, (8) वाण (9) कुकाठा (10) झुनझुना (11) घुंघरू, (12) रोलमो अथवा बुगज़ल

अवनद्ध वाद्य (1) ढोलक (2) ढोलकी (3) घड़ा (4) खंजरी (5) हुड़क (6) नगाड़ा (7) दमामा (8) धौंसा (9) बाम (10) डोंरु (11) तुंगयुंग (12) ढ़बनेली (13) गुजू (14) दरु या डमरु (15) दामाना (16) ढाकली (17) पवन (18) ढ़ाम (19) दमकीड़ी दमामदु (20) छेंगा।

(1) **तत्तवाद्य**—तत्तवाद्यों से अभिप्राय तार पर आघात करके आवाज पैदा करने वाले वाद्यों से है। ऐतिहासिक दृष्टि से संगीत की उत्पत्ति के बारे में निश्चित रूप से कहना संभव नहीं है। संगीत इश्वरीय वाणी से कही गई है। सम्पूर्ण जगत नाद के आधीन है। नाद आदि सृष्टि के आरम्भ से ही विश्वव्यापी है और नाद से ही संगीत की उत्पत्ति उस समय हुई होगी। इस नश्वर संसार में प्रत्येक वस्तु गतिमान है। यह गति प्रकृति के नियमानुसार असंख्य क्षेत्रों में नियमित रूप से संचालित है। नाद गति और लय (नियमित गति) मिलकर संगीत बनाते हैं। लयखण्ड स्वर को और स्वर समूह धुन में परिलक्षित होते हैं। रंजकग संगीत का अनिवार्य गुण है। संगीत की उत्पत्ति के विषय में निश्चित काल सीमा न मिलने के कारण वेद को ही उसकी काल सीमा माना गया है। आचार्य भरत के अनुसार भगवान ब्रह्मा ने ऋगवेद से पाठ्य साम से गीत, युजुर्वेद से अभिनय एवं अर्थवेद से रस लेकर नाट्यवेद की सृष्टि की। भगवान ब्रह्मां ने ही स्वाति और उनके शिष्यों को वाद्य तथा नारद और गंधर्वों को गान योग में नियोजित किया परन्तु उनसे भी पूर्व भगवान शिव इस कला

से परिचित थे। अतः गान, वादन और नृत्य पहले से ही विकसित हो चुके थे। वेदों के काल के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है पर इतना सभी मानते हैं कि ये ईसा से सहस्त्र बर्ष से अधिक्र पुराने हैं। वेद कालीन साम गान की परम्परा में वंश (वेणु) का वादन होता था। तंतु वाद्य में "वाण: शततन्त्रोर्भवति" में वीणा के बारे में बताया गया है। वीणा के निकट या उससे मिलता जुलता कोई लोक वाद्य हिमाचल में उपलब्ध नहीं है। किनुरी वीणा नामक वाद्य अभी तक हिमाचल में देखने को नहीं मिला हिमाचल में तत्तवाद्य अधिकतर कम ऊंचाई वाले क्षेत्रों में हैं। एकतारा, सारंगी और चिकारा कांगड़ा, ऊना, हमीरपुर, मण्डी, विलासपुर, सोलन और सिरमौर के कुछ हिस्सों में प्रयोग होते है। एकतारा अकसर साधु सन्यासी भजन के लिए प्रयोग करते हैं। ऐसा भारत के अन्य भागों में भी प्रयोग होता है और पंजाब हरियाणा में तो लोकगायक इसका खुला प्रयोग करते हैं। यह वाद्य बाहर से प्रदेश में आया है या प्रदेश में ही विकसित हुआ है इसके विषय में निश्चित रूप से कहना कठिन है। फिर भी एक बात तो निर्विवाद सत्य है कि तुम्बे बनाने के लिए कच्चा माल महाराष्ट्र से पजाब में आता है जहां सितार, तानपुरा, एकतारा बनाये जाते हैं। हिमाचल में कहीं भी इसके निर्माण का केन्द्र नहीं है। इस आधार पर कल्पना की जा सकती है कि यह वाद्य साधुओं भजनीको और लोक गायकों द्वारा हिमाचल में प्रचलित किया गया होगा। महाराष्ट्र में इससे मिलता जुलता वाद्य तुनतुना कहा जाता है और बंगाल में गुवगुपी कहा जाता है। एकतारा वैयक्तिक गायन का वाद्य है वाद्यवृन्द का नहीं और ना ही उसका प्रयोग नृत्य के लिए किया जाता है। तत्तवाद्यों में दूसरा वाद्य चिकारा है यह गज से बजाया जाता है। गज में ढोरी के स्थान पर घोड़े की पूंछ के बाल बंधे हुए होते हैं। इसमें परदे नहीं होते और यह सारंगी से मिलता जुलता वाद्य है। चिकारे का प्रयोग प्रदेश के नीचे के भागों में ही होता है। लोकगायक इसे परम्परागत लोकगीतों में प्रयोग करते हैं। इसके बजाने वालों की संख्या में लगातार कमी हो रही है।

सारंगी तत्त वाद्यों में लोकवाद्य के साथ शास्त्रीय गायन में प्रयोग होती है। इसका प्रयोग संगत के लिए भी किया जाता है और अकेले वादन में भी। इस पर सभी प्रकार की गमक आसानी से बजाई जाती है। यह मानव कण्ठ के सबसे निकटतम वाद्य है। यह भी गज वाद्य है। सारंगी का वर्णन आईने अकबरी में नहीं आया। अतः विश्वास करना चाहिए कि यह सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में ही लोकवाद्य के रूप में विकसित हुई होगी। इस तरह के अन्य वाद्य हैं दो तारा, चार तारा, ढाढ सारंगी (पंजाब), चिकारा (उत्तर प्रदेश), इस वाद्यन में भी समय के अनुसार परिवर्तन आए। वर्तमान काल में दो प्रकार की सारंगी पाई जाती है एक तख वाली और दूसरी बिना तख वाली। बिना तख वाली सारंगी लोक संगीत में प्रयोग होती है और तख वाली सारंगी गुणी जनों द्वारा हिमाचल में इसके दोनों रूप प्रचलित हैं। यह वाद्य समस्त उत्तर और मध्य भारत में बजाया जाता है।

नीरज--जुमंग वाद्य डण्डी के प्रहार से बजाया जाता है। यह तिब्बत के माध्यम से हिमाचल प्रदेश में आया है। इसमें परदे नहीं होते। इसका प्रयोग तिब्बती शरणार्थी और लामा वर्ग के लोग ही करते हैं। ग्राम्याङ खाव की तरह बजाया जाता है। इस वाद्य का प्रयोग सीमित क्षेत्रों में ही होता है।

ड्रेमजन—गोवो। यह खाव का सा तार वाद्य है जिसे तारें छेड़ कर बजाया जाता है। यह लाहौल में केलांग से ऊपर और स्पिति तथा उसके साथ लगते किन्नौर क्षेत्र में बजाया जाता है। जबकि केशवा आनन्द ने अपनी पुस्तक "हिमाचल का लोक संगीत" में इसका वर्णन किया है तो भी जनगणना विभाग द्वारा 1971 में किए गए जनजातीय संगीत सर्वेक्षण में श्री आई.ई.एन. चौहान ने इस वाद्य के बारे कहीं कोई जिकर नहीं किया खाव की तरह ही किन्तु उससे आकार में छोटा एक और तार वाद्य खान के नाम से खां में बजाया जाता है। एक अन्य तार वाद्य घिघी धनुष के आकार जैसा होता है और इसे गज के द्वारा बजाया जागा है यह गोवो वाद्य से मिलता जुलता है। उपरोक्त चर्चा से यह निष्कर्ष निकलता है कि हिमाचल लोक संगीत में तत्त वाद्यों का अभाव है। जो वाद्य उपलब्ध भी हैं और प्रयोग में भी आते हैं वे भी अन्य क्षेत्रों से आए प्रतीत होते हैं।

सुषिरवाद्य :—हिमाचल के लोक संगीत में सुषिर वाद्यों का महत्वपूर्ण स्थान है। यह अत्यन्त प्राचीनकाल से आज तक अपना स्वरूप बनाए हुए हैं। वैदिक काल रामायण और महाभारत काल में वर्णित करनाल और रणसिंघ। हिमाचल के बहुत नीचे भागों को छोड़ कर अन्य सभी भागों में व्यापक रूप में प्रयोग किए जाते हैं। पूजा स्थलों में उनका प्रयोग नियमित है और कई परिवारों में पीढ़ी दर पीढी इनको रखने की परम्परा है। बनावट और आकार में रणसिंघा अथवा नरसिंघा अथवा रणसिंह प्रदेश के अलग अलग जिलों में मामूली अन्तर होते हुए भी एक सा है। रणसिंघा हिमाचल में धातु प्रायः चांदी अथवा पीतल का बना हुआ होता है। उस पर नक्काशी और सजावट का भी काम हुआ होता है। इसमें षड्ज और पंचम की ध्वनियां ही निकलती हैं। इसका वादन राजस्थान नेपाल और दक्षिण भारत में भी होता है। दक्षिण में इसे कौम्बु नाम से पुकारते हैं। इसका प्रचलन दूसरे प्रांतों में हिमाचल की अपेक्षा बहुत कम है। यह वाद्य कहीं-कहीं एक दम सीधा और कहीं अंग्रेजी वर्ण 's' की तरह गोल होता है। यह प्रतीकात्मक वाद्य है। इसे संगीत वाद्य नहीं कहा जा सकता। हिमाचल के लोक संगीत में इसका प्रयोग लोकनृत्यों में धुन अथवा गीत परिवर्तन के समय किया जाता है। करनाल (करर्मा) तुरही की किस्म का वाद्य है। यह सीधा होता है और इसकी लम्बाई $2\frac{1}{2}'$ से $5\frac{1}{2}'$ फुट तक होती है। इसे काहला काहला भी कहा जाता है यह बहुत प्राचीन वाद्य है। देश के अन्य भागों में इसे भूपाड़ो भी कहते हैं। काहाली भी करनाल जैसा तंग मुंह का वाद्य है। यह वाद्य पीतल, ताम्बे

या चांदी का बना होता है। छिद्र न होने के कारण इनमें मीलाडी का अभाव है। रणसिंघे की तरह इससे भी दो या तीन स्वर निकल सकते हैं। इस वाद्य का योग भी रणसिंघे की तरह ही है। यह दोनों युद्ध व पूजा के द्योतात्मक वाद्य हैं। संगीत की दृष्टि से इनका विशेष महत्व नहीं परन्तु लोकवाद्य के रूप में अपने उच्च स्वर, आकार व रूप के लिए इनका अपना विशिष्ट स्थान है। जब कि देश के अन्य भागों से इनका लोप हो गया है, हिमाचल में इनका सतत प्रयोग प्रदेश की परम्परा और सांस्कृतिक धरोहर को सुरिक्षित रखने का एक सशक्त प्रयत्न है। सुषिर वाद्यों में प्रमुख स्थान शहनाई का है। शहनाई भी प्रदेश में अलग-अलग नाम से व भिन्न-भिन्न आकार और लम्बाई की पाई जाती है इसमें छेदों की संख्या का भी भेद रहता है। किन्नौर में इसको शरनाल नाम से जाना जाता है चंबा मे इसे पींपी और कुल्लू में नफीरी और गद्दी क्षेत्र भरमौर में सुन्हाना कहा जाता है। काली व बुखरी क्रमशः छोटी व बड़ी शहनाई करनाल का सा स्वरूप लिये होती है। शहनाई अपने आप में एक पूर्ण वाद्य है। यद्यपि बनावट और आकार के भेद में भिन्न-भिन्न स्थानों पर इसकी क्षमता कम अधिक हो सकती है। सुन्दर नाद उत्पन्न करने के कारण शास्त्रकारों ने इसे सुनादि कहा और इसके नाम के अर्थ ही इसे फूंक से बजने वाले बाजों का शाह अर्थात बादशाह बना देता है। देश के अन्य भागों में भी नफीरी नागस्वरम और शहनाई का प्रचलन है। यह धातु और लकड़ी दोनों की बनाई जाती है। यह अत्यन्त प्राचीन वाद्य है और लोक संगीत का प्राण है इसके अभाव में बांसुरी अथवा अलगोजों का प्रयोग भी किया जाता है। बहुधा बांसुरी और शहनाई एक साथ भी बजाए जाते है।

वाद्यों में सबसे अधिक लोकप्रिय वाद्य बांसुरी है। यह बिना गांठ के वांस की अथवा खैर की लकड़ी की बनी होती है। कई बार चंदन की लकड़ी, लोहा, कांसां, चांदी और सोने की बांसरी भी बनाई जाती है। यह गोल आकार की और चिकनी भी होती है। स्वर स्थान के लिए सात या आठ छेद किए जाते हैं। बांसरी एक अत्यन्त प्रचीन वाद्य है। साम गान के अवसर पर भी बांसुरी का प्रयोग प्रचलित था। बंशी का आधार लेकर ही गायक व वादक अपना स्वर मिलाते थे हिमाचल में बाँसुरी का प्रयोग लोकवाद्य के रूप में ही है। आधुनिक काल में कुछ कलाकार इसे शास्त्रीय गायन व वादन में प्रयोग कर रहे हैं। चूंकि यह वाद्य सम्पूर्ण भारत में प्रचलित है इसलिए यह कहना कठिन है कि यह देश के अन्य भागों से हिमाचल में आया या हिमाचल से बाहर गया। बांसुरी का प्रयोग प्रदेश के प्रसिद्ध लोकनृत्यों में या शहनाई और ढोल के साथ या किसी अन्य ताल वाद्य के साथ स्वतंत्र रूप में किया जाता है। हिमाचल में ही इसे कई नामों से पुकारा जाता है जैसे विशड़ी, बैंज और वेंद लिड्म्बू, लगोजू अथवा अलगोजा चरवाहों का जातीय वाद्य माना जाता है। इसमें दो बांसुरी होती हैं जिनमें चार-चार छेद रहते हैं। दोनो बांसुरी

एक साथ एक ही व्यक्ति बजाता है। यह प्रदेश के निचले भागों में लोकगीतों के साथ संगत के लिए बजाया जाता है। कोई-कोई कलाकार स्वतंत्र रूप में भी इसका वादन करते हैं। इसका स्वर बहुत ऊंचा होता है। पंजाब राज्य में अलगोजा बहुत लोक प्रिय वाद्य है। यह वाद्य हिमाचल में बाहर से आया मालूम होता है। क्योंकि यह सारे प्रदेश में प्रचलित नहीं हैं। हिमाचल पंजाब के अतिरिक्त इस वाद्य को राजस्थान में अलवर के मेओ गीतों के साथ बजाते हैं। तुर्री एक अन्य प्रकार का सुषिर वाद्य हिमाचल में बजाया जाता है। उसका मुंह छोटा और आकृति नोकदार होती है। यह पीतल की बनती है। इसकी ध्वनि तीखी होती है। तुर्री अक्सर महासु में बजाई जाती है।

शंख का प्रयोग हिमाचल पूजा स्थलों में अथवा अन्य संस्कार उत्सव और अनुष्ठानों में किया जाता है। शंख प्राचीन काल में युद्ध के समय भी बजाया जाता था। प्रत्येक सेनापत्ति अपना अलग-अलग शंख बजाता था। भगवान कृष्ण के शंख का नाम था पांचजन्य और अर्जुन के शंख का देवदत्त। यह संगीत वाद्य नहीं है। संगीतोपयोगी शंख जिसका संगीतसार नामक ग्रन्थ में वर्णन है हिमाचल में कहीं नहीं मिलता।

घन वाद्य—प्रहार करके बजाए जाने वाले वाद्यों को घोंन वाद्य कहते हैं। इनका अपना कोई अलग से वादन नहीं होता अतः ये दूसरे वाद्यों की संगत में ही सुन्दर लगते है। भले ही संगीताचार्य इन्हे पूरा वाद्य माने या न माने लोक संगीत में इनका प्रयोग और रुप विस्तार अत्यन्त प्राचीनकाल में प्रारम्भ हो चुका था। शास्त्रीय संगीत में इनका प्रयोग समय के साथ समाप्त हो गया है। ये वाद्य बजाने में सरल होते है और साधारण व्यक्ति बिना अधिक अभ्यास के इन्हें बना सकता है। ये ताल और हारमोनी पैदा करने में सहायक हैं। भजन लोकगीत और लोक नृत्यों में इनका प्रयोग सार्वभौमिक है। हिमाचल में पाये जाने वाले घन वाद्यों का वर्णन निम्नलिखित है।

झांझ दो बड़े पीतल के चपटे गोल और पतले चक्रों का बना होता है। दोनों चक्र बीच में से थोड़े वाहिर की ओर पिचके होते हैं। ये आपस में टकरा कर बजाए जाते है। झनझनाहट भरा स्वर देर तक गुंजाएमान रहता है। स्थान मवहार और परिमास भेद के अनुसार यह वाद्य प्रदेश के सभी भागों में बजाया जाता है। इसका प्रयोग अधिकतर पूजाग्रहों में कीर्तन के समय और लोकनृत्यों में किया जाता है। यह वाद्य भारत के अन्य राज्यों में भी प्रचलित है। यह सरल वाद्य है और इसका प्रयोग भी अत्यंत प्राचीन है। धातु वाद्य होने के कारण हो सकता है यह देश के अन्य भागों से हिमाचल में आया हो। झांझ के वीच में डोरी की बनी मूंठ होती है जिस पकड़ कर दोनों हाथों से ताली की तरह झांझ को बजाया जाता हैं।

मंजीरा—मंजीरा का वर्णन प्राचीन ग्रंथों में नहीं मिलता। हां मध्यकालीन कृष्ण भक्त कवियों ने इस का उल्लेख किया है। चित्रों में भी मंजीरा बजाती हुई महिलाएं दिखाई गई है। मंजीरा छोटा और धातु का बना होता है। यह गोल होता है परन्तु बीच में से स्तानाकार होते हुए छिद्र में सुतली लगी रहती है। एक ही सुतली दो मंजीरों में लगी होती है। इसे हाथों में लपेट कर दोनों मंजीरों को बजाया जाता है। हिमाचल में मंजीरा कीर्तन और विवाह आदि मंगल-कार्यों में गायन के और नृत्य के समय बजाया जाता है। इसका प्रयोग प्रदेश के सभी भागों में समान रुप से होता जाता है।

खड़ताल—यह लोक वाद्य भी कीर्तन और भजन में प्रयोग होता है। यह लकड़ी की बनी हुई होती है और इसमें छोटी २ झांझ लगी होती है। उंगलियों और अंगूठे के लिए छेद बने रहते हैं। यह भी काफी प्राचीन वाद्य है। बनाने में सरल हैं। सन्यासी लोग अपने एक हाथ में एकतारा और दूसरे हाथ में खड़ताल लेकर बजाते हैं और गाते हैं। चिमटा भी भजन कीर्तन में ही प्रयोग होता है यह लोहे का बना होता है और इसमें भी छोटी २ झांझ लगी रहती है। खड़ताल की अपेक्षा इसमें ज्यादा आवाज रहती है। यह देश के सभी दूसरे भागों में बजाया जाता है। चिमटा पंजाब के भंगड़ा नृत्य का प्रमुख वाद्य है। इसे मनुष्य नाचने के साथ स्वयं बजाते हैं। पंजाब के साथ लगने वाले हिमाचल के जिलों में चिमटे का प्रयोग भजन कीर्तन में किया जाता है। चिमटे के एक भाग में कड़ा लगा रहता है जिससे ताल का काम लिया जाता है। तो हम कह सकते हैं कि यह वाद्य भी प्रदेश के बाहर से यहां आया है।

घुंघरु पीतल की छोटी छोटी घंटियों में लोहे के या पत्थर की छोटी २ गोलियां डाली जाती है जो हिलने पर आवाज पैदा करती है। घुंघरु का प्रयोग नृत्य के लिए होता है। प्रदेश के सभी भागों के लोकनर्तक इसका प्रयोग करते हैं। भारत के सभी भागों में समान रुप से घुंघरु का प्रयोग होता है। **झुनझुना** वाद्य लकड़ी अथवा धातु का बना होता है। इसकी छः इंच से लेकर एक फुट तक की डण्डी के एक सिरे पर एक खोखले गेंद अथवा तुम्बें जैसे भाग में पत्थर डाले हुए होते हैं। डण्डी से पकड़ कर हिलाने पर इसके अन्दर आवाज पैदा होती है। यह लोकवाद्य बहुत लोक प्रिय नहीं है। अधिकतर विवाह शादियों पर बालिमकी बेंड द्वारा ही इसका प्रयोग किया जाता है।

रोलबो अथवा बुगजल झांझ की तरह का वाद्य है तथा इसका प्रयोग लाहुल और किनौर में नृत्यों और पूजागृहों में होता है।

अवनद्ध वाद्य—भीतर से खोखले तथा चमड़े से मढ़े हुए जिन वाद्यों को हाथ से या डण्डे से पीट कर बजाया जाता है उन्हें अवनद्ध वाद्य कहा जाता है इनका लोक संगीत में बहुत महत्वपूर्ण

स्थान है। ताल का गुणा इन्हीं वाद्यों से मिलता है। नृत्य तो इन वाद्यों के बिना हो ही नहीं सकता। संगीत के प्राण लय और ताल के सृजन में अबनद्ध वाद्य जनक का काम करते हैं और सुषिर और तत्त वाद्य जननी का। घंटा पीतल का बना हुआ मोटा और भारी शिखर रुप में बना होता है। यह अन्दर से खोखला होता है और बीच में एक घुंडी सी लटकी रहती है। जब यह घुंडी घण्टे के भीतरी भाग से लगती है तो इसमें आवाज पैदा होती है घण्टे का छोटा रुप घंटी के नाम से जाता है और आरती तथा भजन के अवसर पर मूंठ से पकड़ कर इसको बजाया जाता हैं। पीतल की मोटी चक्राकार थाली जो लकड़ी के हथौडे से बजाई जाती है, घड़ियाल कहलाती हैं। मंदिरों व गिरिजाघरों में सुबह शाम इसे बजाया जाता है। स्कूलों और कालिजों में भी घड़ियाल का प्रयोग समय की जानकारी के लिए किया जाता हैं। इसका हिमाचल के लोकगीतों और लोकनृत्यों मे कोई विशेष प्रयोग नही है केवल मंदिरों में ही पूजा के समय इन्हे बजाया जाता है।

थाली कांसे या पीतल की पतली चादर से बनी होती है। इसका प्रयोग नृत्यों के समय ढोल बजाते हुए होता हैं। किन्नौर में वाण नाम का वाद्य थाली से ही मिलता-जुलता है और 'कायङ्ग' या 'चाश्मिक' दोनों नृत्यों में प्रयोग होता है। इसे लकड़ी के डहणडे से बजाते हैं। तथा कभी-कभी 'बाए' नाम से भी पुकारते हैं। ऊपरी महासू क्षेत्र में भी इसका प्रयोग नाटी में किया जाता है। थाली 'मुजरा' नामक सिरमौरी नृत्य में भी बजाई जाती है। थाली असानी से उपलब्ध लोकवाद्य है। और ताल व लय के लिए इसका प्रयोग लगभग पूरे प्रदेश में है। संस्कार गीतों में भी स्त्रियां थाली वादन करती हैं। ये अपेक्षाकृत सरल परन्तु घनवाद्यों से कठिन होते हैं। लोकप्रियता की दृष्टि से अबनद्ध वाद्य दूसरे वाद्यों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हैं। उनके बजाने बालों की संख्या अधिक है। सर्वेक्षण के अनुसार 1971 में किन्नौर ज़िले में 225 वादकों में सै 98 अवनद्ध वाद्य वादक थे तथा 44 घनवाद्य वादक और 83 सुषिर वाद्य वादक थे।

वादन प्रक्रिया के अनुसार हिमांचल में सात प्रकार के उपलब्ध हैं। दोनों हाथ से बजाए जाने वाले, एक हाथ से केवल अंगुलियों से बाजए जाने वाले, दोनो हाथों से डण्डियों द्वारा बजाए जाने वाले, एक ओर हाथ से और दूसरी डण्डी से बजाए जाने वाले, लकड़ी की घुण्डी या शंकु के आघात से एक ही हाथ द्वारा बजाए जाने वाले, बाद्यों में बंधी घुडियों की चोट से बजने वाले और दाएं हाथ से शंकू की चोट द्वारा और बाएं हाथ की मध्यम अंगुली से बजने वाले वाद्य।

प्रदेश में उपलब्ध अवनद्ध लोक वाद्यों का वर्णन इस प्रकार है।

ढोलक—यह वाद्य आम, शीशम, सागवान नीम और जामुन की लकड़ी से बनता है। प्रदेश में अधिकतर शीशम और आम की लकड़ी का ही प्रयोग होता है लकड़ी के अन्दर को खोखला कर

दिया जाता है और मुख पर बकरे की खाल मढ़ दी जाती है। इस खाल को डोरियों द्वारा कस दिया जाता है। डोरियों में छल्ले रहते हैं जो खाल और डोरियों को आवश्यकतानुसार कस देते हैं। ढोलक का दाहिना मुख तथा बायां मुख मन्द्र स्वर में बोलता है। बायां मुख मोटी खाल से मढ़ा जाता है और उसके अन्दर एक विशेष प्रकार का लेप किया जाता है। ढोलक एक बहुत ही लोकप्रिय वाद्य है। पूजागृहों के अतिरिक्त पंचायतों और ढिंढोरचियों के पास ढोलक प्रदेश के सभी भागों में मिलता है। लोकनृत्यों और नाटियों में ढोलक एक महत्वपूर्ण वाद्य है। इससे नृत्य की गति निर्धारित की जाती है। ढोलक ढीली, विलम्बित तावली (मध्य) द्यौली (तेज) लय में बजाया जाता है। ढोल वादक (बजंतरी) ही सबसे प्रथम ढोल बजा कर लोकनृत्य के आरम्भ का उदघोष करता है। प्रदेश के निचले भागों में मेलों के अवसर पर आयोजित कुश्तियों में भी ढोल वादन की परम्परा है। ढोलक देश के अन्य भागों में भी लोक प्रिय लोक वाद्य है।

ढोलकी—यह ढोलक के सामन परन्तु आकार में छोटी होती है। इसके दोनों मुखों का व्यास नौ दस इंच होता है। यह घरों में संस्कार गीत-भजन, कीर्तन और अन्य अवसरों के समय बजाई जाती है। लोक नृत्य (गिद्धा) में भी महिलाएं इसका प्रयोग करती हैं। प्रदेश के निचले भागों के पूजागृहों में भजन कीर्तन के लिए इस वाद्य का प्रयोग व्यापक तौर पर होता है। कांगडा, चम्बा, बिलासपुर, सोलन मण्डी के लोकगीतों में ढोलकी आम बजाई जाती है।

घड़ा—यह मिट्टी का बना होता है साधारण मटके की तरह। इस पर खाल नहीं मढ़ीं जाती। एक हाथ से घड़े का मध्य भाग बजाया जाता है और दूसरे हाथ से उसका मुंह। घड़े का प्रयोग प्रदेश के कम ऊंचाई वाले भागों तक ही सीमित है। इस वाद्य का प्रचलन देश के अन्य भागों में भी है। कर्नाटक में तो शास्त्रीय संगीत में भी इसका प्रयोग किया जाता है। इसकी आवाज़ बहुत मधुर और आकर्षक होती है। सिरमौर के 'गुजरा' के लोक नृत्य में इस वाद्य का प्रयोग किया जाता है।

खंजरी—यह लकड़ी का बना हुआ होता है। इसके एक ओर बकरी की खाल मढ़ी होती है। इसे केवल एक हाथ से बजाते हैं। कभी-कभी इसके घेरे में पीतल की छोटी-छोटी झांझें भी लगी हुई होती है। यह वाद्य कर्नाटक, महाराष्ट्र और राजस्थान में भी बजाया जाता है। महाराष्ट्र में दिगड़ी और कर्नाटक में गंजीरा कहते हैं। यह वाद्य प्रदेश के निचले भागों बिलासपुर, कांगड़ा, सिरमौर, सोलन और मण्डी जिलों में ही बजाया जाता है। यह वाद्य लोकनृत्यों के साथ बजाया जाता है। यह वाद्य हिमाचल में भारत के अन्य भागों से ही आया मालूम पड़ता है। खंजरी एक प्राचीन वाद्य

करचक्र के आधार पर बनी है और उससे आकार में छोटी होती है। इसमें कहरवा और दादरा के बोल बहुत सुन्दर ढंग से बजते हैं।

हुड़क – हुड़क अथवा हुड़ुक अथवा हुड़ूक एक बहुत प्राचीन वाद्य है। भरत के नाट्यशास्त्र में इसे पनव नाम दिया गया है। मृदंग और ढोलक शारंगदेव के समय जा चुके थे इसलिए हुड़क का प्रयोग कम हो गया था। आचार्य लाल मणि मिश्र के अनुसार उत्तर भारत में केवल कहार जाति के लोग ही हुड़क का प्रयोग करते है। शिमला और सिरमौर की नाटियों में हुलक जथवा हुड़क वाद्य का प्रयोग किया जाता है। यह आकार में डमरु की तरह है लेकिन उससे बहुत बड़ा होता है। पौराणिक गाथाओं के गायन के साथ भी इसे बजाया जाता है।

नगाड़ा—इस वाद्य में बड़ा कटोरा तांबे का और छोटा लोहे का बना होता है। बड़े पर भैंस का और छोटे पर ऊंट का चमड़ा मढ़ा होता है। इसे एक व्यक्ति द्वारा दो डंडियों से बजाया जाता है। बड़े नगाड़े का स्वर नीचा और छोटे का बहुत उंचा स्वर मिलाया जाता है। उंचे स्वर के लिए इसे आग में सेंका जाता है। नीचा स्वर करने के लिए छेद में पानी डाल कर गीला किया जाता है। इस पर कहरवा, दादरा के अतिरिक्त कई कठिन तालें और लयकारियां बजाई जाती है। यह कुल्लू में नाटी के समय बजाया जाता है देव स्थानों पर भी नगाडे का प्रयोग किया जाता है। चंबा में भी लोक नृत्यों के अवसर पर नगाड़ा बजाया जाता है। विवाह आदि अवसरों पर भी इसका प्रयोग होता है। यह वाद्य हरियाणा, राजस्थान, उत्तर प्रदेश में भी बजाया जाता है। हिमाचल प्रदेश के सभी जिलों में नगाड़े का समान रूप से प्रचलन है। निचले भागों में बड़े नगाड़े को टम्मक कहते हैं। महासु अथवा शिमला में इसे दमाना, लाहुल में दामन और चम्बा में निशान कहा जाता है।

दमामा—यह नगाड़ा जाति का वाद्य है और एक बहुत बड़ा नगाड़ा जो लोहे अथवा किसी अन्य धातु का बना होता है, तिपाई पर रख कर मोटी डंडियों से बजाया जाता है। यह मुख्य रूप से युद्ध का वाद्य था और लोक नृत्यों में ताल देने वाला प्रमुख वाद्य है। अन्य वाद्य इसी नीति के अनुसार बजते हैं। अकसर यह राजाओं के नक्कार खाने में बजता था। अतः हिमाचल में रियासतों की समाप्ति के बाद इसका प्रयोग लोक-नृत्यों में ही रह गया है।

धौंसा—यह भी नगाड़ा जाति का वाद्य है और दमामें की तरह ही बजाया जाता है। प्राचीनकाल में इसे दुंदुभि कहा जाता था।

बाम चिक्तिवाम छोटे नगाड़ों जैसे होते हैं। इन्हें एक ओर हाथ से और दूसरी ओर डण्डी से बजाया जाता है। यह किन्नौर क्षेत्र का लोकवाद्य है और नाटियों के साथ बजाया जाता है।

डोंरु—यह वाद्य डमरु की तरह होता है किन्नौर और लाहुल स्पिति में बजाया जाता है।

तुंगयुंग—यह भी इसी तरह का वाद्य है और शंकु से एक ही हाथ से बजाया जाता है।

डमरु—छोटा सा वाद्य है जिसके दोनों ओर चमड़ा मढ़ा होता है और बीच का भाग पतला होता है। जहां रस्सी बंधी रहती हैं और दो सिरे पर दो गाठें दायें बाएं घुमाने पर मढ़े भागों पर लगती है और स्वर पैदा होता है। यह शिव जी का रूप वाद्य है और अत्यन्त प्राचीन है। आजकल मदारी लोग ही इसका ज्यादा प्रयोग करते हैं। दरु डमरु सामान्य डमरु से अलग होता है यह खंजरी के आकार का बड़ा वाद्य है। इसके दोनों तरफ चमड़ा मढ़ा होता है। इसका हत्था लम्बा होता है जिसे घुमा कर इसे डोरी की गांठों से बजाया जाता है।

डफ डफली—लोहे की चादर के घेरे के एक ओर बकरे का चमड़ा। चमड़े की ही बधियों से बंधा रहता है। इसे हाथ और डंडी दोनों से बजाया जाता है। किन्नौर व लाहुल स्पिति में इसे दप कहा जाता है।

छेंगा—यह किन्नौर क्षेत्र के कनम गांव में उपलब्ध है। अन्य मन्दिरों और गुफाओं में भी यह वाद्य लामाओं द्वारा बजाया जाता है। इसके दोनों ओर चमड़ा मढ़ा होता है। इसे शंकु से बजाया जाता है।

ताशा—यह चपटे कटोरों पर बकरे की खाल व चमड़े की पेटियां कस कर बनाया जाता है। गले में लटका कर दो पतली डंडियों से ढोल और झांझ के साथ बजाया जाता है। यह लोकवाद्य प्रदेश के निचले जिलों में ही प्रचलित है।

गुभू—यह डमरु की तरह होता है। ऊपरी शिमला तथा मण्डी के जिलों में इसका उपयोग होता है। यह दाएं हाथ से शंकु द्वारा और बाएं हाथ से मध्यमा ऊंगली की रगड़ से बजाया जाता है।

ढाकली अथवा डकोली गुझू से छोटा होता है और एक ओर से हुलक की तरह बजाया जाता है। पवन भी डमरु की तरह है पर बीच से लम्बा होता है। यह लाहुल क्षेत्र का लोकवाद्य है। डौरू और ढाकरू भी डमरु की तरह के वाद्य हैं।

तुङमुङ—खंजरी की तरह का वाद्य है। इसके दोनों ओर चमड़ा मढ़ा होता है। यह शंकु के आघात से जाया बजाता है और एक ही हाथ से बजता है। यह एकतालीय, बोलपरण क्षमता हीन वाद्य हैं।

दमकिड़ी और दमामटु भी नगारा आकार के होते है। दगामटु दमामा की ही तरह होता है केवल नाग भेद है।

उपरोक्त सर्वेक्षण से यह निषकर्ष निकलता है कि हिमाचल के लोक वाद्य हिमाचली लोगों के सरल जीवन के प्रतीक हैं। यहां के लोक वाद्यों का स्वरूप बना हुआ है और इसमें पाश्चात्य सभ्यता और आधुनिकता का प्रभाव न के समान है। कई वाद्य तो वैदिक काल से ही चले आ रहे हैं। देश के अन्य भागों से आने वाले वाद्य भी स्थानीय रुप में अपना लिए गए हैं। हमारे लोक वाद्यों का अपरिष्कृत रुप हमारी सांस्कृतिक विरासत है। इस विरासत को आगे बढ़ाना हमारा परम कर्त्तव्य है। इसके लिए आवश्यक है कि अपने लोक वाद्यों का मूल स्वरूप यथावत रखते हुए उनमें उतना ही नियमित और आवश्यकतानुसार परिवर्तन करें जितना उनके रूप को निखार सके। और उनकी क्षमता में बृद्धि कर सके। सांस्कृतिक विकास का एक मानक स्वर वाद्यों का विकास है। इस दृष्टि से हम काफी पिछड़े हुए है। शहनाई और बांसुरी के अतिरिक्त हमारे यहां अधिक रेंज वाले स्वर लोकवाद्य नही है। शहनाई और बांसुरी में भी शिक्षा के अभाव में संगीतकार उनका सीमित प्रयोग ही करता है। राज्य स्तर पर लोक-वाद्य वादकों का प्रशिक्षण, स्थानीय स्तर पर उनकी प्रतियोगिताएं, उनके लिए उचित पारिश्रमिक और प्रोत्साहन की व्यवस्था, लोकवाद्यों में सुधार क्षेत्र की पहचान तथा सुधार की सीमा के लिये विशेषज्ञों की अध्ययन कमेटी आदि पग सरकार द्वारा उठए जाने चाहिए। इसके लिए जन जागरण की भी व्यवस्था आवश्यक है। रेडियो और टी. वी. के कुप्रभाव से बचना है परन्तु अच्छी बातों को आत्मसात करना और अपने ही रूप का निखार तो सर्वथा वांछनीय है। इस बारे किसी पूर्वाग्रह का होना विकास में बाधक होगा और डर है कि हमारी सांस्कृतिक विरासत को आधुनिकता का वेग मिटा न दे। हमें सुधार के लिए स्वंय को परिस्थिति के अनुसार तैयार करना चाहिए न कि परिस्थितियां हमें अपने बोझ तले अचानक दबा दें। शहनाई, करनाल में कतिपय परिवर्तन और तर वाद्यों में पूर्वपरिचित सारंगी का व्यापक प्रयोग विकास में सहायक हो सकते हैं।

लोक संगीत गति प्रधान होता है और विकास में स्वर प्रधान सुषिर व तत्त वाद्यों की वृद्धि में स्वर मुख्य रूप से उभर रहा है। स्वर की इस खोखली विकास धारा को लोक संगीत के गति प्रधान रूप को स्वर लोकवाद्यों में यथोचित परिवर्तन करके बांधना आवश्यक होगा ताकि स्वर की रंजकता उसे और मधुर व गतिमान बना सके।

प्रदेश में वाद्यों के निर्माण के लिए भी उचित पग उठाए जाने चाहिए। वाद्यों की आसान व कम कीमत में उपलब्धि भी लोक संगीत के विकास में सहायक होगी।

7, ओल्ड ब्राकहर्स्ट काटेज,
शिमला—171009

लाहुल की धार्मिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

प्रोफैसर डी. डी. शर्मा

संस्कृति शब्द का अर्थ तथा क्षेत्र दोनों ही बहुत व्यापक हैं। इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ हैं "संस्कार करना" (सम्+कृ—), सुधार या परिष्कार करना, यह मानव जीवन के भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही पक्षों का परिष्कार करती है। भौतिक पक्ष में भी यह उसके वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों ही रुपों को उजागर करती है। वस्तुतः संस्कृति का क्षेत्र इतना विशाल है कि इसमें मानव की समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक उपलब्धियों का समावेश हो जाता है। भौतिक उपलब्धियों का सम्बन्ध यद्यपि हमारे बहिजगत् के साथ होता है किन्तु हमारा यह बहिजगत भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हमारे आन्तरिक जगत् को प्रभावित करता रहता है। इसी से हमारे संस्कारों की सृष्टि होती है जिसकी कि निष्पत्ति संस्कृति पद के समान ही सम् पूर्वक कृ धातु से होती है। फलतः हमारा समस्त वैयक्तिक तथा समाजिक क्रिया कलाप, धार्मिक एवं दार्शनिक धारणाएँ हमारी संस्कृति को प्रतिबिम्बित करते हैं। इन्ही के माध्यम से हम किसी संस्कृति के तत्वों का निरीक्षण कर सकते हैं।

विभिन्न संस्कृतियों के अध्ययन एवं विश्लेषण से देखा गया है कि प्रत्येक मानव समूह की अपनी एक पृथक एवं स्वतन्त्र संस्कृति होती है। इसीलिए संस्कृति का न तो कोई सार्वभौम रूप होता है और न मानदंड ही। ऊपरी रूप में अन्य संस्कृतियों से रूपात्मक साम्यता होने पर भी उनमें निहित तत्वों का अपना एक स्वतंत्र महत्व एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि हुआ करती है। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि किसी संस्कृति के जो रूप हमारे समक्ष होते हैं उनका विकास न तो किसी अप्रत्याशित घटना के फलस्वरूप होता है और न किसी व्यक्ति विशेष के आदेश पर। वस्तुतः इन्हें उभरने, परिष्कृत होने तथा जन मानस के द्वारा अपनी सांस्कृतिक निधि के रूप में स्वीकृत किये जाने में सैंकड़ों वर्षों का समय लग जाता है। इतना ही नहीं, अन्य संस्कृतियों से आगृहीत तत्वों को आत्मसात करने में भी एक लम्बा समय लग जाया करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रत्येक मानव समाज का प्रत्येक संस्कृतिक तत्व उसके पूर्वजों की अमूल्य थाती होता है। उसके प्रति उसका मोह तथा अपनत्व का भाव होना स्वाभाविक ही है यही कारण है कि परिवर्तित स्थितियों में भी वह सहज में उसे छोड़ने को तैयार नहीं होता है। कई बार तो वह स्थान परिवर्तन तथा धर्म परिवर्तन के उपरान्त भी किसी न किसी रूप में अपनी परम्परागत संस्कृति के साथ जुड़ा रहता है।

जनजातीय संस्कृति : यहां पर संस्कृति के सामान्य पक्ष पर विचार करने के अतिरिक्त जनजातीय संस्कृति के सम्बन्ध में भी दो शब्द कहना असंगत न होगा। वस्तुतः जनजातीय संस्कृति एक धारणा है जो कि उस समाजिक एवं धार्मिक जीवन का बोध कराती है और एक विशिष्ट भौगोलिक

परिवेश में एक लम्बी ऐतिहासिक यात्रा के साथ-साथ उस जन समूह के सम्पर्क में आने वाली अन्य संस्कृतियों के उपादानों को आत्मसात् करता हुआ अपना एक विशिष्ट रूप धारण किया करती है । इसीलिए किसी भी जन जातीय संस्कृति को समझने के लिए उसकी ऐतिहासिक एवं भौगोलिक पृष्ठभूमि को समझना आवश्यक होता है । उसी के प्रकाश में उसका यथोचित विश्लेषण एवं मूल्यांकन किया जा है । इसके अतिरिक्त किसी संस्कृति का सही मूल्यांकन करने के लिए यह भी आवश्यक है कि उसे उन्हीं लोगों के दृष्टिकोण से देखा जाय जिनसे कि उसका सम्बन्ध होता है ।

लाहुल के मूल निवासी : यद्यपि आधुनिक लाहुल में मंगोल एवं आर्य प्रजाति के लोगों तथा बौद्ध एवं हिन्दू धर्म के अनुयायियों की सत्ता पायी जाती है किन्तु लाहुल के मूल निवासी कौन थे तथा उनकी संस्कृति का क्या स्वरूप था इन प्रश्नों का सीधा एवं सपाट उत्तर दे पाना बहुत कठिन है, क्योंकि लाहुल के पुरातन राजनैतिक इतिहास के सम्बन्ध में अधिकृत सामग्री का अत्यन्त अभाव है । यहां के धार्मिक इतिहास के सम्बन्ध में भी इतना ही कहा जा सकता है कि यहां पर बौद्ध धर्म का प्रवेश सातवीं शताब्दी के उपरान्त ही हुआ होगा । क्योंकि केन्द्रीय तिब्बत में 400 ई. सन् के लगभग बौद्ध धर्म का प्रवेश हो जाने पर भी अन्य क्षेत्रों में इसका प्रचार तब तक नहीं हुआ जब तक कि 8वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में तिब्बत के शासन के शासक सेंन-चन्-गुम्पो (629 ई) ने इसे राजधर्म के रूप में स्वीकृत कर के सम्पूर्ण तिब्बत में इसके प्रचार के लिए प्रयत्न नहीं किया । इस प्रसंग में यह ऐतिहासिक तथ्य भी सर्वविदित है कि यहां के जन मानस में परम्परागत बोन धर्म के प्रगति गहरी आस्था होने के कारण लगभग दो सौ वर्षों तक बौद्ध धर्म का प्रतिरोध होता रहा । जिसका कि प्रबलतम रूप लाड्.-दरमा के शासक काल में देखने को मिलता है । इसके उपरान्त यद्यपि लाड्.दरमा के अन्त के साथ ही राजधर्म के रूप में बौन धर्म का अन्त हो गया किन्तु यहां के सामान्य जन मानस में उसकी मूलभूत प्रवृत्तियों एवं लोक परम्पराओं की सत्ता बनी रही । फलतः उच्च वर्ग में एक धर्म तथा दर्शन के रूप में बौद्ध परम्पराओं की मान्यता के बावजूद भी लोक व्यवहार में अधिकांशतः उन्हीं लोक विश्वासों एवं आस्थाओं का अनुपालन होता रहा जिनकी कि जड़ें बौद्ध धर्म के प्रचार से पूर्व ही यहां पर काफी गहरी पड़ी हुई थी । यह एक निर्विवाद तथ्य है कि आज भी समस्त हिमालयीय प्रदेश के लोग जीवन में ऐसी अनेक परम्पराओं के दर्शन होते हैं जिनका कि मूल बौद्ध परम्पराओं से अन्यत्र ढूंढा जा सकता है । लाहुल की लोक संस्कृति में भी अनेक ऐसे बौद्धेतर तत्व पाये जाते हैं । जिनका कि उत्स अन्यत्र देखा जा सकता है । इन्हीं में से कुछ संस्कृतियों एवं धार्मिक तत्वों पर यहां विचार करने का यत्न किया जा रहा है ।

पुरातन काल में लाहुल की यह हिमाच्छादित घाटियां किन-किन जनजातियों की आवास-भूमि रहीं इसका ऐतिहासिक लेखा जोखा यद्यसि आज हमारे पास नहीं है किन्तु यहां की भाषओं तथा लोक परम्पराओं में पाये जाने वाले अनेक तत्व ऐसे हैं जो कि इस बात का स्पष्ट संकेत करते हैं कि बौद्ध

तथा आर्य धर्मानुयायी मंगोल तथा आर्य जाति के लोगों के द्वारा इसे अपनी आवास भूमि बनाये जाने से पूर्व यहां पर ऐसी प्रजातियों तथा संस्कृतियों की सत्ता रही जो कि प्रजाति, धर्म एवं भाषा की दृष्टियों से भिन्न थी। इन आगन्तुकों ने उन्हें तथा उनकी संस्कृति को अपदस्थ तो कर दिया पर सर्वथा मिटा न सके। फलतः लोक मानस पर तथा लोक परम्पराओं में उनका अस्तित्व किसी न किसी रूप में बना रहा। अपनी अस्तित्व यात्रा में ये प्रागैतिहासिक जातियां इन आगन्तुकों से निरस्त हो कर कहीं सुदूर के प्रदेशों में चली गयी या इन्हीं में विलीन हो गयीं, इस सम्बन्ध में यद्यपि निश्चित रूप से कुछ कह पाना कठिन है किन्तु यहां पर आज भी अनेक ऐसे भाषायी तत्वों एवं लोक परम्पराओं की विद्यमानता जो कि वर्तमान प्रजातियों एवं धर्मों की परम्पराओं से मेल नहीं खाती। इस बात का संकेत अवश्य करती हैं कि उनमें से कुछ का विलयन अवश्य ही वर्तमान प्रजातियों में हुआ होगा अन्यथा उनके इन अवशेषों की सम्भावना ही नहीं हो सकती है।

चारों ओर से उत्तुंग पर्वत श्रृंखलाओं से घिरे हुए इस छोटे से प्रदेश की विभिन्न घाटियों में पाये जाने वाले महत्वपूर्ण भाषाई विभेद भी इस बात के संकेतक हैं कि यहां के वर्तमान निवासी भी यहां पर भिन्न-भिन्न कालों में तथा भिन्न वर्गों में आये तथा यहां की मूल सांस्कृतिक धाराओं में अपना अपना योगदान करते रहे।

सांस्कृतिक सम्मिश्रण : वस्तुतः लाहुल अपनी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति के कारण हिमालय के विभिन्न हिम स्त्रोतों से प्रवाहित होने वाली जल धाराओं के संगम के समान हो विभिन्न धर्मों एवं संस्कृतियों का संगम स्थल स्थान बनता रहा। ज्ञात इतिहास के अनुसार भी यहां के मूल निवासियों की सांस्कृतिक धारा में समय-समय पर उत्तर और पूर्व की ओर से भोट संस्कृति की तथा दक्षिण और पश्चिम की ओर से आर्य संस्कृति की धाराओं का समागम होता रहा। फलतः प्राकृतिक परिसीमाओं से आबद्ध तथा बाह्य जगत् के सम्पर्क से विच्छिन्न इस प्रदेश में एक मिली-जुली संस्कृति का विकास होता रहा। यही कारण है कि यहां के विभिन्न समुदायों के धार्मिक संस्कारों, अनुष्ठानों और सामाजिक विधि विधानों में एक अद्‌भुत सम्मिश्रण देखा जाता है। इनमें से अनेक रूप ऐसे हैं जिन्हें स्वतंत्र रूप से किसी प्रजाति, धर्म **या वर्ग विशेष के साथ** नहीं जोड़ा जा सकता है। यहां तक कि अनेक अंशों में तो स्थिति ऐसी है कि न तो बौद्ध धर्मानुयायियों में प्रचलित प्रथाओं को शुद्ध रूप से बौद्ध परम्पराओं के साथ जोड़ा जा सकता है और न आर्य धर्मानुयायियों में प्रचलित प्रथाओं को शुद्ध आर्य परम्पराओं के साथ। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी परम्पराएं भी देखने में आती हैं जिनका मूल रूप इनमें से किसी में भी नहीं खोजा जा सकता है।

तथ्य तो यह है कि लाहुली संस्कृति सम्पूर्ण रुप से हमारे समक्ष धार्मिक सहिष्णुता एवं सांस्कृतिक सह-अस्तित्व का एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करती है जिसका प्रतिरुप अन्यत्र पाना कठिन है। सह अस्तित्व पर आधारित इसी आदान प्रदान का परिणाम है कि यहां पर एक मिश्रित संस्कृति,

मिश्रित भाषा तथा मिश्रित प्रजातीय तत्वों का रुप उभरता रहा है। विशेष कर चाद्रभागा घाटी में तो यह सांस्कृतिक सम्मिश्रण इतने अधिक अनुपात में हुआ है कि यहां पर न तो कोई वर्ग विशुद्ध रुप से बौद्ध है और न आर्य आर्य ही। यहां तक कि यहां पर अनेक परिवार ऐसे भी हैं जिनमें सांस्कृतिक सम्मिश्रण के साथ साथ प्रजातीय सम्मिश्रण होता रहा है।

धार्मिक परम्परा की दृष्टि से लाहुली संस्कृति के मूल में कम से कम जिन तीन धाराओं का संगम स्पष्ट रुप से देखा जा सकता है वे हैं।

1. लोक धर्मी पुरातन धारा
2. डुगपा सम्प्रदाय से प्रभावित बौद्ध धारा
3. पौराणिक परम्पराओं से प्रभावित आर्य धारा

अब आगे आने वाले पृष्ठों में हम संक्षेप में इनके प्रमुख प्रभावों पर प्रकाश डालने का यत्न करेगें।

मंगोल बौद्ध तत्व : वर्तमान समय में लाहुल के अधिकांश निवासी मंगोल प्रजातीय तथा बौद्ध धर्मानुयायी हैं। यद्यपि चन्द्रभागा घाटी में, स्वांगला, चाहण, गरा या लोहार के नाम से अभिहित आर्य वंशीय लोगों का अनुपात ही काफी है। किन्तु इन सभी का आगमन इस प्रदेश में काफी बाद का प्रतीत होता है। यद्यपि इस आप्रवासन की कोई निश्चित तिथि निर्धारित कर पाना कठिन है फिर भी अनुमान किया जा सकता है कि भागा घाटी के मंगोल वंशीय लोग इस क्षेत्र में उत्तर तथा पूर्व की ओर से रुमस एवं लद्दाख के क्षेत्रों से तथा चन्द्रा घाटी के लोग स्पिति तथा तिब्बत की ओर से आये क्योंकि चन्द्राघाटी की उपरि भाग की बोली लद्दाखी की अपेक्षा स्पिति की बोली के अधिक निकट पड़ती है जबकि उपरि भागा घाटी की बोली संस्कर तथा लद्दाख की बोली से अधिक साम्य रखती है। आर्य वंशीय लोगों का आगमन निश्चित रुप से कुल्लू एवं चम्बा की ओर से हुआ है।

ये सभी लोग यद्यपि अपनी अपनी क्षेत्रीय संस्कृति के तत्वों को लेकर यहां आये किन्तु बाह्य जगत के सम्पर्क से विच्छिन्न रहने के कारण उसकी स्वतंत्र सत्ता को कायम नहीं रख सके। उनमें समय समय पर परिस्थिति जन्य परिवर्तन आते रहे। फलतः यहाँ पर बौद्ध धर्मानुयायियों का बहुत्व होते हुए भी अन्य धर्मानुयायियों के प्रति उनका सहिष्णुता एवं समानता का व्यवहार पाया जाता है। इनमें धार्मिक कट्टरता का कोई रुप नहीं पाया जाता है। यही कारण है कि यहां की बौद्ध परम्परा में अनेक अबौद्ध तत्वों का समावेश पाया जाता है, यद्यपि सामान्यतः बौद्ध धर्मी परम्पराओं का ही प्राधान्य रहा है।

लोकधर्मी परम्परा : लाहुल के पुरातन लोक धर्म के सम्बन्ध में रेव रेण्ड फादर हाइड का कथन है कि बौद्ध धर्म के प्रचार से पूर्व इस घाटी में एक अति निम्न प्रकार के धर्म का पालन किया जाता था जिसे अब भी वह (बौद्ध धर्म) पूरी तरह से उन्मूलित नहीं कर सका है। इस पुरातन धर्म को अब भी लाहुल में 'लुङ; पई-छोई' के नाम से जाना जाता है। यही इस घाटी का मुख्य धर्म था। इस धर्म के अनुसार ऊँचें पर्वत शिखरों, पुराने देवदारु के वृक्षों, पर्वतों की चट्टानों और गुफाओं में निवास करने वाले देवी-देवताओं (ल्हा) तथा शैतोनी शक्तियों को प्रसन्न करने के लिए बलियां दी जाती थीं और ये बलियां कभी कभी नर बलियां भी हुआ करती थी। किन्तु बौद्ध धर्म के प्रचार के बाद धीरे-धीरे इन क्रूर धार्मिक प्रथाओं का ह्रास होने लगा। (कांगड़ा डिस्ट्रिकट गजट 1897 में रेव रेण्ड हाइड के 1868 के एक पत्र से उद्धृत) इसी प्रसंग में उसने केलंग देवता को प्रसन्न करने के लिए प्रतिवर्ष एक अष्टवर्षीय बालक की बलि देने की प्रथा का भी उल्लेख किया है। (दे-गिल, मनोहर सिंह, 1972: 120) स्मरणीय है कि अहिंसा के मूल सिद्धांत पर आधारित बौद्ध धर्म में हिंसा के लिए कोई स्थान नहीं पर लाहुल के बौद्धों में अनेक अवसरों पर पशुबलि का आयोजन किया जाता है। 'योर' के अवसर पर शांशा में वृक्ष पूजन के साथ पशुबलि का भी आयोजन किया जाता है। गाहर में भी खेतों की सिंचाई के लिए निर्मित जल प्रणाली (कुहल) में प्रथम बार जल को प्रवाहित करते समय उसके स्त्रोत पर एक मेमने की बलि दी जाती है उसके उदर मल को तो 'खुसुती आपा' के नाम पर जल में प्रवाहित कर दिया जाता है तथा मास को प्रसाद के रुप में वहीं पर भून कर खा लिया जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ लोग फसल की मड़ाई के अवसर पर भी अपने खलिहानों में एक मेमने की बलि दिया करते हैं।

लाहुल का सर्वमान्य व सर्वशक्तिमान देवता गेपङ या घेपन भी एक बलिभोगी देवता है। सिसु के निकट शासिन में स्थित मन्दिर के अतिरिक्त रोहतांग के शिखर पर भी इसके निमित्त पशुबलि दी जाती है।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक क्षेत्र के अपने स्थानीय देवी देवता हैं जिनकी बड़ी श्रद्धा से पूजा अर्चना तथा मनोतियां की जाती हैं। गाहर घाटी में तंगज़ेर देवता भी एक ऐसा ही देवता है जिसे सभी लोग बड़ी श्रद्धा के साथ पूजते हैं। बलिभोगी देवता न होने से इसकी अर्चना मक्खन के टोटू, जौ की फुल्लियों तथा मदिरा से की जाती है। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेख्य है कि यद्यपि यहां का प्रत्येक बौद्ध उपासक अपनी दैनिक प्रार्थना में सुरापान से बचे रहने की प्रार्थना करता है (सुरा मेर्यमज्जय पमाद्रठांणं वेरमणि सिक्खापदं समादियामि) किन्तु उसका ऐसा कोई भी धार्मिक या सामाजिक कार्य नहीं होता जिसमें कि सुरा का प्रयोग न होता हो। स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म की परम्परा में इनके लिए कोई स्थान न होने पर भी ये सभी तत्व यहां के सांस्कृतिक परम्परा के अभिन्न अंग बने हुए हैं।

लोक देवताओं के समान ही यहां पर प्रत्येक क्षेत्र का अपना एक ग्राम देवता भी होता है जिसकी आराधना सभी कार्यों के शुभारम्भ के लिये की जाती। हम देखते हैं कि गाहर का बौद्ध लोक

गायक भी अपनी लोक गाथा तथा उससे सम्बद्ध आयोजित कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिये गाथा प्रारम्भ करने से पूर्व अपने ग्राम देवता का स्मरण एवं वन्दना करता है। तथा च उसके नाम पर 'ओशाहुम युल्ला लेते खेन' अथवा 'छोद-छोद लईम्यत्यो तंङजेर तेते खेन' कह कर उसकी आराधना करता है।

बौद्ध देवकुल में इस प्रकार के देवी देवताओं के लिए कोई स्थान न होने से यद्यपि बौद्ध विहारों (गोनपा) में इनके लिए कोई स्थान नहीं पर लोक जीवन में ये एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। किन्तु इसके विपरीत एक लोक देवता ऐसा भी है जो कि बौद्ध देवकुल का सदस्य न होने पर भी यहां के बौद्ध विहारों में अनिवार्य रुप से स्थान पाया करता है। इसका नाम है 'डल्हा' (सेनापति) इसकी संकल्पना एक सेनापति के रुप में की जाती है तथा उसी पोशाक में अस्त्र शस्त्रों से अलंकृत करके इसे विहार के मुख्य कक्ष में किसी स्तम्भ के साथ स्थापित किया गया होता है। बौद्ध देवकुल के अन्य देवों के समान ही नियमित रुप से इसकी पूजा अर्चना होती है। विश्वास किया जाता है कि युद्धकाल में यह अपनी सेना का नायक बन कर उसका संचालन करता है तथा उसे विजय दिलाने में सहायक होता है। विहार के लामाओं को दी जाने वाली कर्मकांड की शिक्षा में इसकी पूजन विधि की शिक्षा भी सम्मिलित होती है। बौद्ध विहार के अतिरिक्त बौद्ध राजपूत ठाकुरों के पूजा गृहों में भी इसकी स्थिति आवश्यक रुप से पायी जाती है।

लाहुल में बौद्ध धर्म के प्रचार के पूर्व काल से चली आ रही लाहुली परम्पराओं में हालडा (नव वर्षोत्सव) तथा गोची (पुत्र जन्मोत्सव) का महत्वपूर्ण स्थान है। ये दोनों ही उत्सव ऐसे हैं जिनमें कि बौद्ध धर्म के संरक्षक लामाओं का कोई सम्बन्ध नहीं होता है। प्रतीत होता है कि ये दोनों ही उत्सव लाहुल के परम्परागत पुरातन उत्सव हैं जो कि अपनी दृढ़ मूलता के कारण बौद्ध धर्म के प्रभाव से अछूते ही रहे। इनमें से हालडा के अवसर पर तो सात दिन तक घरों के अन्तर्कक्ष में बौद्ध देव कुल की देवियों से भिन्न समृद्धि की देवी "सिस्कर अपा" की बड़ी श्रद्धा एवं विधि विधानों के साथ पूजा आराधना की जाती है। इसी प्रकार गोची के उत्सव पर ग्राम देवता की तथा तंगज़ेर की पूजा के अतिरिक्त अग्नि के इर्द गिर्द नृत्य एवं लक्ष्य वेध आदि का आयोजन किया जाता है। इस उत्सव का मुख्य केन्द्र गाहर घाटी में स्थित केलंग ग्राम हुआ करता है।

बोन प्रभाव : परम्परागत लोक धर्म प्रभाव के अन्तर्गत हम बोन धर्म के प्रभाव की उपेक्षा नहीं कर सकते। क्योंकि तिब्बत तथा उसके निकटवर्ती प्रदेशों में इसकी प्रतिष्ठा सुदीर्घ काल से चली आ रही थी तथा इसके धार्मिक अनुष्ठानों ने जन मानस में गहरी जड़ें जमा ली थी। लाङ-दरमा की मृत्यु के बाद यद्यपि मठीय अनुष्ठानों तथा दार्शनिक चिन्तनों में बौद्ध धर्म का बोल बाला हो गया था किन्तु सामान्य जन जीवन पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप में परम्परागत धार्मिक विश्वासों एवं अनुष्ठानों

का ही प्रभाव बना रहा। फलतः यहां के लोग एक ओर मठीय अनुष्ठानों के लिए लामानुशासित धर्म की परम्पराओं से अनुशासित होते रहे और दूसरी ओर अपने दैनिक जीवन में परम्परागत लोकधर्मी परम्पराओं से। इतना ही नहीं कालान्तर में तो इनमें से अनेक का समावेश लामा प्रधान धर्म से अनुशासित अनुष्ठानों में भी हो गया। फलतः इन प्रदेशों के बौद्ध अनुष्ठानों में अनेक तत्व ऐसे हैं जिनका मूल बोन धर्म की परम्पराओं में पाया जाता है।

बौद्ध देव कुल का सदस्य न होने पर भी यहां के बौद्ध विहारों में अनिवार्य रुप से देवकुल में स्थान पाने वाले 'डल्हा' सेनापति के सम्बन्ध में समझा जाता है कि यह बोन परम्परा के प्रभाव के ही कारण है। अति प्राचीन काल से ही देवाराधन की परम्परा में इसका स्थान होने के कारण बौद्ध मानस ने इसे भी अपना लिया।

लाहुल की बोलियों में शङ् शुङ् (zhang zhung) भाषा (बोन धर्मानुयायियों की धर्मभाषा) के अनेक शब्दों की सत्ता इस बात की स्पष्ट संकेतक है कि कभी यहां पर शङ् शुङ् भाषा तथा उससे सम्बद्ध बोन धर्म का प्रचार रहा होगा। यहां पर मृत्यु के परिहार के निमित्त किया जाने वाला उपचार मिछब्स (मानव विनिमय) तथा "पौङ दक" (गोष्ठस्थ का दाह) शवयात्रा से पूर्व की जाने वाली "याङ खुग" पूजा आदि अनेक तांत्रिक उपचार ऐसे हैं जोकि बोन धर्म की ही देन प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त और भी अनेक लोकानुष्ठान, यथा शवा, डोए आदि, ऐसे अनुष्ठान है जिनका सम्बन्ध किसी परम्परागत संस्कृति के साथ ही जोड़ा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त यहां के विशिष्ठ द्विविध अन्येष्टि संस्कारों में भी इसके प्रभाव को ढूंढा जा सकता है। दाह संस्कार के उपरांत मृतक की अस्थियों को एक थैले में रखकर उन्हें दो आड़ी-तिरछी लकड़ियों की मानवाकृति में सजा कर तथा उसे वस्त्रालंकारों से सुसज्जित करके विसर्जनावधि तक उसके समक्ष मृतक को प्रिय खाद्य सामग्री भेंट करना, तथा विसर्जन के अवसर पर उसे उसी रुप में घोड़े की पीठ या मानव की पीठ पर बैठा कर ले जाना आदि इसी पुरातन धर्म के रुप ही हो सकते हैं। बोन धर्म के धार्मिक अनुष्ठानों तथा अन्त्येष्टि सम्बन्धी क्रियाओं का गहराई के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने से और भी अनेक तथ्य प्रकाश में आ सकते हैं। द्विविध अन्येष्टि की यह परम्परा नीलगिरि के टोडा जन जाति के लोगों में भी पायी जाती है।

आग्नेय संस्कृति : एक अन्य सांस्कृतिक अन्तः सलिला जिसके अवशेष लाहुली संस्कृति संगम में देखे जा सकते हैं वह हैं आग्नेय संस्कृति, जिसका भारतीय रुप मुण्डा संस्कृति के रुप में पाया जाता है। लाहुल में इस संस्कृति के प्रभाव के सम्बन्ध में इतना तो कहा जा सकता है कि यहां की बोलियों में मुण्डा परिवार की बोलियों के तत्वों का पाया जाना इस बात का स्पष्ट संकेतक है कि प्रागैतिहासिक

काल में यहां उन पर लोगों का भी आवास रहा जो कि आज मुण्डा, सन्थाल आदि जनजातियों के रूप में यहां से दूर मध्य प्रदेश बिहार, बंगाल एवं उड़ीसा के प्रदेशों में पाये जाते हैं।

इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक अवशेषों के सम्बन्ध में रेव रेण्ड जस्के का कथन है कि लाहुल के मनचंद (पट्टन) क्षेत्र की एक परम्परागत प्राचीन कथा में मुण्डारी प्रथा का रुप देखा जाता है। इस प्रथा के अनुसार इस क्षेत्र में मृत व्यक्ति की स्मृति में मार्गों के निकट एक पाषाण शिला स्थापित की जाती है। यहाँ प्रत्येक गांव के निकट ऐसी शिलाओं को देखा जा सकता है। अनति पूर्व काल में स्थापित ऐसी शिलाओं के मध्य में तेलाभ्यंग भी देखा जा सकता है। अधिकतर शिलांए सपाट होती हैं किन्तु कुछ ऐसी भी होती हैं जिनमें कि मृत व्यक्ति की आकृति का प्रतिनिधित्व करने वाली मानवाकृतियाँ भी उत्कीर्ण होती हैं। इनका एक व्यापाक रुप यहां के मन्दिरों में स्थापित उन विशाल शिलापट्टों पर भी देखा जा सकता है जिन पर कि दस से भी अधिक ऐसी आकृतियों का आलेखन किया गया होता है तथा जिन्हें तेल से सिंचित किया गया होता है (हिस्ट्री आफ लद्दाख, पुनर्मुद्रित, दिल्ली, 1977 : 176) लगभग यही परम्परा कोरापुट क्षेत्र के बोण्डा जाति के लोगों में भी पायी जाती है।

भाषाई दृष्टि से मुण्डा परिवार की भाषाओं के साथ इनकी असाधारण सरंचनात्मक साम्यता भी इसी बात की पुष्टि करती है कि कभी इन लोगों का इन भाषाओं के बोलने वालों के साथ दीर्घकाल तक निकट सम्पर्क रहा। आम तौर पर समझा जाता है कि लाहुल की बोलियां तिब्बत-बर्मी परिवार की बोलियां हैं किन्तु उनका यह सम्बन्ध शब्दावली की साम्यता तक ही सीमित है। इन में पाये जाने वाले अनेक रुपात्मक तत्व, यथा बीस के आधार पर अंकों की गणना, कर्त्ता एवं कर्म के तत्वों से संवलित जटिल क्रिया रुपों की रचना, संज्ञा तथा क्रिया पदों का तीन पुरुषों तथा तीनों वचनों में प्रयोग आदि कुछ तत्व ऐसे है जिनका कि तिब्बत वर्मी परिवार की भाषाओं के साथ दूर का भी सम्बन्ध नहीं तथा मुण्डा भाषाओं के साथ अति निकट का सम्बन्ध व्यक्त होता है। व्याकरणिक रुपों के अतिरिक्त यहां की बोलियों में अनेक शब्द ऐसे हैं जिनका कि मूल मुण्डारी भाषाओं में ही ढूंढा जा सकता है। लेखक के पास ऐसे अनेक शब्दों का संकलन विद्यमान है।

आर्य प्रभाव : यह सर्वविदित हैं कि लाहुल में प्रारम्भ से ही बौद्ध धर्म की महायान सम्प्रदाय के 'ञिङमा-पा' या 'कर्ग्यद-पा' (डुगपा) सम्प्रदाय का प्राधान्य रहा। महायान सम्प्रदाय पर हिन्दू तंत्र शास्त्र का प्रभाव होने के कारण यहां की बौद्ध परम्पराओं पर हिन्दू धर्म की अनेक पूजा पद्वतियों एवं धार्मिक अनुष्ठानों का प्रभाव होना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि यहाँ के बौद्ध समाज में हिन्दू समाज के समान ही अनेक प्रकार के तांत्रिक अनुष्ठानों तथा अतिमानवीय शक्तियों की पूजा अर्चना में गहरी निष्ठा पायी जाती हैं। जो कि भगवान बुद्ध द्वारा निहित अनुष्ठानों से मेल नहीं खाती।

सर्वविदित है कि बौद्ध परम्परा में त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म और संघ) तथा बौद्ध देवकुल में परिगणित देवी देवताओं के अतिरिक्त किसी अन्य देवी देवता या भूत प्रेत की न तो सत्ता स्वीकार की जाती है और न उसकी पूजा-आराधना के लिए ही कोई अवकाश रखा गया है। वहां तो एक बार "बुद्धं शरणं गच्छामि" के मंत्र को धारण कर लेने के उपरान्त उपासक के लिए फिर किसी बाह्य शक्ति की उपासना या आराधना के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता है। इस प्रकार के बहुदेववाद की स्थिति केवल आर्य धर्म में तथा सर्वचेतन वादिता की स्थिति मूलतः आदिम जातियों में पायी जाती है। किन्तु यहां के बौद्धों में दोनों ही स्थितियों में विद्यमानता पायी जाती है। फलतः यहां के बौद्ध समाज में एक ओर तो बौद्ध परम्पराओं के साथ आर्य धर्म से प्रभावित धार्मिक तत्वों की तथा दूसरी ओर अनेक प्रकार के लोकधर्मी तत्वों की सत्ता देखी जाती है। इन तीनों के बीच अनेकत्र पारस्पारिक विसंगति एवं विरोध की स्थिति होने पर भी बड़ी निष्ठा के साथ इनका अनुपालन किया जाता है।

यहां के बौद्ध धर्मानुयायियों पर आर्य के प्रभाव का एक ज्वलन्त उदाहरण है इनके कतिपय धार्मिक अनुष्ठानों में हवन का विधान। इसमें हवन का रुप तथा उससे सम्बद्ध शब्दावली भी लगभग आर्य परम्परा के ही अनुरुप है। यद्यपि अग्नि को समर्पित किये जाने वाले पदार्थ का नाम तथा उसकी प्रक्रिया का माध्यम तिब्बती भाषा है किन्तु हवनीय सामग्री को अग्नि को समर्पित करते हुए उससे सम्बद्ध मंत्र का अन्त 'स्वाहा' शब्द से ही किया जाता है। इसी प्रकार का प्रभाव इनके द्वारा प्रतिपादित 'ञेरचोद' (सप्तोपचार) पूजा में भी देखा जा सकता है। उसमें तो अर्पणीय सातों ही वस्तुओं के नाम भी शुद्ध वैदिक परम्परा से गृहीत हैं, यथा ओम् सर्व तथागत अर्घ प्रतिष्ठ हुम् स्वाहा, ओम् सर्वतथागत पाद्य प्रतिष्ठ हुम् स्वाहा आदि।

ऐसे ही, बौद्ध धर्म में बालक के मुण्डन संस्कार का कोई पृथक् विधान न होने पर भी यहां के बौद्धों में, कम से कम ज्येष्ठ पुत्र के सन्दर्भ में, इसके पालन की परम्परा देखी जाती है, जो कि स्पष्टतः हिन्दू प्रभाव कहा जा सकता है।

इसी प्रकार भगवान बुद्ध के अनन्य उपासक होते हुए भी पट्टन के बौद्धों में प्रत्येक घर में एक गृह देवता या कुल देवता की स्थापना की जाती है जो कि घर के सबसे ऊपरी कक्ष में या छत पर एक प्राषाण शिला के रुप में होती है। इसे शुरबुठ (देवदारु) की हरी हरी टहनियों से अलंकृत करके प्रतिदिन इसके सामने इसी की सूखी पत्तियों की धुप दी जाती है तथा रोटू (सत्तू और मक्खन का पिंड) तथा मरदन्ज़ा (भात और घी का पिंड) का भोग लगाया जाता है।

हिन्दुओं में प्रचलित बहुदेव वाद की स्थिति तो यहां के सभी बौद्ध सम्प्रदायों में पायी जाती है। उदाहणार्थ, लाहुल की सभी घाटियों में स्थानीय देवी देवताओं के अतिरिक्त जल देवता, नाग देवता, भू देवता, वृक्ष देवता, भूत प्रेत, डाकिनी-योगिनी आदि की भी आराधना की जाती है। यथा भूमि में

नाग देवता का वास होने से उसे प्रसन्न करने के लिए नये भवन का निर्माण करते समय दूध या मदिरा से उसकी पूजा की जाती है। चन्द्रभागा घाटी में अन्य देवताओं के मन्दिरों के साथ नाग देवता के मन्दिर भी पाये जाते हैं। स्वतंत्र रुप से भी मोलङ के 'ठरनाग' के अतिरिक्त शांशा में भी एक नाग देवता का मन्दिर है। जिसकी आराधना सभी वर्गों के लोगों के द्वारा की जाती है। इसी प्रकार 'सबदक' के नाम से पूजा जाने वाला देवता भी नाग का ही रुप होता है। इसकी स्थिति जलस्त्रोतों के आस पास के वृक्षों में मानी जाती है, इसीलिए इन वृक्षों को काटना वर्जित होता है।

लाहुल की नाग पूजा के सम्बन्ध में रेव रेण्ड फादर ए. एच. फ्रांके का कथन है कि सम्भवतः लाहुल का पुरातन धर्म लिंग पूजा तथा नाग पूजा से सम्बद्ध था। (एण्टिक्विटीज़ आफ इण्डियन तिब्बत)

वृक्षों में देवताओं के निवास से सम्बद्ध विश्वास की स्थिति यद्यपि बौद्ध धार्मिक साहित्य में पायी जाती है पर लाहुल में यह परम्परा अति व्यापक रुप में पायी जाती है। यहां की सभी घाटियों में कतिपय पुराने देवदारुओं की विशेष अवसरों पर पूजा की जाती है तथा उन्हें बलि भी चढ़ाई जाती है। पट्टन में 'योर' नामक शीत कालीन उत्सव के अवसर पर शांसा में एक विशाल शुर बुठ की पूजा की जाती है तथा पशुबलि भी चढ़ाई जाती है। गाहर घाटी में बौद्ध धर्म का कुछ अधिक प्रभाव होने से पशुबलि नहीं दी जाती है।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि लाहुली संस्कृति के वर्तमान रुप के मूल में अनेक प्रजातियों तथा धार्मिक परम्पराओं का योगदान रहा है। इसे पूरी तरह समझने के लिए इसकी पृष्ठभूमि में कार्यशील उन सभी संस्कृतियों को समझना आवश्यक है जिनके तत्वों से इसका निमार्ण हुआ है। किसी एक धर्म या प्रजाति के प्रकाश में ही इसे समझने या इसकी व्याख्या करने से अभिप्रेत प्ररिणाम प्राप्त नहीं हो सकता। उपर्युक्त दिशा संकेतों के प्रकाश में इस दिशा में गहन अध्ययन किये जाने से महत्वपूर्ण ऐतिहासिक परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं। आशा है लाहुली विद्वान् इस ओर भी ध्यान देंगे।

पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़

महासूई लोक गीतों में सामाजिक चित्रण

श्रीदत्त शर्मा

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज के गतिशील होने के कारण उसे समाज के साथ-साथ चलना पड़ता है। किसी भी व्यक्ति का समाज के विरुद्ध चलना उसके लिए हानिकारक माना जा सकता है। इस विषय में यह व्यक्त करना असत्य न होगा कि कवि एवं गीतकारों का हृदय बड़ा कोमल होता है। वे समाज के किसी भी परिवर्तन को व्यक्त करने से नहीं चूकते जिससे उनकी दूरदर्शिता ही प्रदर्शित होती है।

प्रस्तुत गीत में जो कि एक भक्ति रचना है लोक गीत कार ने इसी प्रकार की दूरदर्शिता प्रदर्शित की है। इसे तत्कालीन लोकगीतकारों ने दसवां अवतार शीर्षक के अन्तर्गत स्वरबद्ध किया है। मैंने पिछले एक अंक में देवी देवताओं के वर्णन के अन्तर्गत विचार व्यक्त किया था कि यहां के एक प्रसिद्ध देवता बिजट महाराज की महिमा का कुछ वर्णन आगामी अंक में करुंगा। अत: यहां यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि उक्त भक्ति रचना इस देवता की पूजा का ही एक भाग है जिसमें वर्णित घटनाएं आज के युग में शत प्रतिशत घट रही है, यह लोक भक्ति गीत आज का बना नहीं अपितु चौपाल क्षेत्र के कई बजुर्गो से पूछने पर ज्ञात हुआ कि वे इस रचना को अपने पूर्वजों से लेकर इसी रूप में सुनते आए हैं। रचना संक्षेप में इस प्रकार है :

शिगड़ा बौरती देवा गोसांइया यौशुआ अवतारो।
बामणौ देऔ री औरौ न रोहली कुचालाना चालौला संसारौ॥
कौलिजुगौ मुझँ देवा केरा होऔला चाला।
बापौ इ बौदका पुत्रौ डेऔला गुरु इ बौदका चेला॥
कौलिजुगौ मुझँ देवा सौंग कोए न सौराले।
हिन्दु रैं तूर्का सौभी बौणौले, फुटे जिमौ कांसँ रे थाले॥
कौलिजुगौ मुझँ देवा सौतेया कोय न कौरौ।
पापी कँ पुत्रौ कौलकौ होए औ कौलिजुगौ दँ भौरौ॥
कौलिजुगौ मुझे देवा बूरा चालौ ला सन्तापौ।
शागौ आगँ पुत्रौ मौरौतौ किरिपा बाण्डौलँ बापौ॥
कौलिजुगौ मुझँ देवा बौडे होऔले भीन्गे।
राजँ सुत्रौ हौटेऔ बोशौलँ डूम चलाऔ लँ डीन्गे॥
ढ़ेड़ डूम भौक्तौ बौगौलँ, बामणौ चारौ लँ गोरू।
राजँ वामणौ हौटेऔ बोशौलँ खुमली तारी ली जोरु॥
कोलौ को फूलडू देवा, चौलँ मौली गुणौ।
चीनीऔ घूमणौ फिरदी रौहो, देवौ नारायणौ भुणौ।

उपरोक्त भक्ति रचना में लोक गीतकार ने कलियुग का वर्णन करते हुए कहा है कि इस युग में लोगों के जीवन में बड़ा परिवर्तन होगा। पिता से पहले पुत्र की मृत्यु होगी जिसके कारण उसकी किरया (क्रिया-कर्म) पिता को करनी पड़ेगी। राजाओं के राज्य समाप्त हो जाएंगे तथा महिलाओं को भी सभाओं आदि में भाग लेने के लिए पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त होंगे, उच्च नीच का अन्तर नहीं होगा अर्थात गुणहीन ब्राह्मण को लोगों के पशु भी चराने पड़ सकते हैं और गुण युक्त हरिजनों को शासन तक करने का अधिकार प्राप्त हो सकता हैं। गुण युक्त हरिजन ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक ईश्वर भक्त होंगे, सास बहूओं में झगडे अधिक होंगे। कलियुग में कोई किसी का सम्बन्धी नहीं होगा। मानव कृतघनता की ओर अग्रसर होगा तथा अपने ही भाइयों के प्रति विभिन्न प्रकार के षड़यन्त्र रचता रहेगा। ऐसे हाल में लोकगीतकार प्रार्थना करता है कि नारायण ही कलियुग की सन्तान की रक्षा करे।

यथार्थ रूप में देखा जाए तो इस रचना का सम्बन्ध प्राचीन वेदों एवं धार्मिक ग्रन्थों से किया जा सकता है, जिसमें जाति विशेष का कोई वर्णन नहीं है। दिनचर्या हेतु वर्णव्यवस्था थी जिसके अनुसार गुणवान व्यक्ति को ब्राह्मण, वीरता से परिपूर्ण व्यक्ति को क्षत्रिय, व्यापार आदि में संलग्न व्यक्ति को वैश्य तथा उपरोक्त वर्णों की सहायता एवं सेवा करने वाले को शूद्र कहा जाता था, चारों वर्ण एक दूसरे के पूरक माने जाते थे। बाद में कुछ स्वार्थी तत्वों ने इसका लाभ उठा कर इसे जाति प्रथा में परिवर्तित कर दिया और यह कुप्रथा भारतीय समाज में आज तक विद्यमान है।

लोकगीतकार की दूरदर्शिता ने इसका इतनी स्पष्टता से विश्लेषण किया हैं कि शायद जब यह रचना बनी होगी उस समय का मानव इस पर विश्वास नहीं करता होगा और इसे मात्र हास्यास्पद कल्पना मान कर निरर्थक समझता होगा। परन्तु वर्तमान भारतीय समाज में यह कल्पना यथार्थ बन चुकी है। संविधान के अनुसार यहां जाति प्रथा का अन्त करके बिना किसी भेदभाव के प्रत्येक मनुष्य को उन्नति के समान अवसर प्राप्त हैं। एक हरिजन परिवार से सम्बन्धित व्यक्ति यदि वह योग्य है उसे शासन करने एवं अन्य महत्वपूर्ण सेवा करने के लिए प्राथमिकता दी जाती है जबकि गुणहीन ब्राह्मण एवं अन्य वर्ग के व्यक्ति यदि वे अनुभवहीन हैं तो उन्हें उनकी वरीयता के अनुसार सम्मान प्राप्त हो सकता है।

इसके अतिरिक्त लोकगीतकार ने विचार व्यक्त किया है कि कलियुग में कोई किसी का सम्बन्धी नहीं होगा और प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थ भावना से परिपूर्ण होगा, लगभग सत्य है। आजकल जहां भी देखो लोग साम्प्रदायिक भावनाओं के कारण अपने ही भाइयों को शत्रु समझ कर उनके खून के प्यासे बन चुके हैं। वे यह नहीं सोचते कि वे भारत मां की सन्तान हैं। जिसके विकास में उनकी भी समृद्धि है। व्यक्ति की समृद्धि तभी हो सकती है जब उसका देश समृद्ध हो ओर यह तभी सम्भव है यदि हम आपस में एकता से रहें। आज का मानव प्रगति के पथ पर अग्रसर होकर आन्तरिक्ष में पहुंच गया हैं और हम साम्प्रदायिकता के चक्कर में प्राचीनकाल की ओर जा रहे हैं जहां एक जाति की दूसरी से शत्रुता होती थी और छोटी-छोटी बातों पर लड़ाई झगड़े होते थे। इस विषय में भी एक लोकगीत प्रस्तुत है :—

टीरो दे फूले दूदले नेवली दी गाती रे।
होनलो रैं जांगलैं पौडी, ठुण्डूओ री छानी रे।।
ठुन्डू कमराऊ री जाए, रौही कांगी रे।
ठुण्डू केइयौं कमराऊ, बीणकरु मांगी रे।।
केई ती कौरैं कमराऊ, मौतौ दा पीता रे।
जाया होला खौशणी रा, लाए मेड़ौ दा छीटा रे।।
मुलैं री मौलाइयैं केरे मौलाए रे।
मीरजू गोआ कमराऊ शीमणी खैं जाए रे।।
बातौ छाड़ी मीरजूए सौबलैं खैं लाए रैं।
बीजीए मेरी गौएणेएँ, पौड़ौ घूसकू गेरु रे।।
तेरैं बापैं सौबलेया खेऔ कौर्जा मेरु रे।।
बातौ लाऔ सौबला, पौडौ ला चेऊ रे।।
पोरा चालैं शीलौ खैं. कौर्जा ठारी मुलैं देऊरे।।
बारौ दा बाशाशीमणी, मौरु दा शुआ रैं।
बाटौ मिला हाण्डदैं, ठाण्डैं पानी रा छुआ रैं।।
तू मी जाणी सोबला, किन्दरी रा किन्दा रे।
नौइन्दा बौठैं मिरजूआ, पाणी थिया पिन्दारे।।
मौनौ दा रे मिरजू, घौड़ौ ला घाटौ रे।
पाणी लाए पिन्दीए, बौरी सौबलैं दे शाटौ रे।।
एजी होन्दी ठुण्डूआ, बौएरी री खैंलौ रे।
मुण्डौ डेओ रीढ़ीऔ जेरो माटी रो ढ़ेलौ रे।।
मीरजू कमराऊ मौली देऔला हूशौ रे।
लोऊ लीतो डांगरो, उबो गूंजौ दो घूशो रे।।

उपरोक्त लोकगीत में लोकगीतकार ने व्यक्त किया है कि दो जातियों ठुन्डू और कमराऊ की आपस में मात्र इसलिए शत्रुता हुई कि चोपाल के हामल क्षेत्र के ठुण्डू सिरमौर के निकट कमराऊओं के जंगल में सर्दियों में अपनी भेड़ बकरियों को चराने के लिए ले जाते थे जिसका कमराऊ विरोध करते

थे। वे ठुण्डूओं से कर के रुप में बणकरु अर्थात् बकरा इत्यादि भेंट स्वरूप मांगते थे। जिसे देने के लिए ठुण्डू तैयार नहीं थे, एक दिन मिरजू नाम का कमराऊ सबला नाम के ठुण्डू के पास आया और कहने लगा कि उसके पिता जी ने उसका (मिरजू का) कर्जा देना है, इस पर सबले से अपनी अनभिज्ञता प्रकट की परन्तु कहा कि यदि यह सच है तो वह अपने बाप द्वारा लिया गया ऋण मिरजू को देव स्थान पर उसके इस विषय में शपथ लेने पर चुका देगा, दोनों शिरूणी नामक स्थान के लिए चल पड़े जहां एक देवी मन्दिर था, रास्ते में सबला ने पानी के एक स्त्रोत के पास अपनी प्यास बुझाने की इच्छा व्यक्त की, ज्योंही सबला पानी पीने के लिए झुका मिरजू ने डांगरा नाम के एक हथियार से उस का सिर काट दिया जो मिट्टी के एक ढेले के समान दूर चला गया। तत्पश्चात मिरजू ने नारा लगाया कि उसने ठुण्डुओं से अपना कर प्राप्त कर लिया है और खून से रगा वह डांगरा उसने अपनी मूछों से साफ कर लिया।

मेलों का पहाड़ी क्षेत्र में बड़ा महत्व है। विशेषकर गर्मियों के मौसम में चोपाल क्षेत्र में कई स्थानों पर मेलों का आयोजन किया जाता है। जिसके लिए विभिन्न दलों को आमन्त्रित किया जाता है। निम्नलिखित लोकगीत में मेले का एक चित्रण है जो यहां से लगभग २० किलोमीटर की दूरी पर रिजंट नामक स्थान पर लगता था। एक बार वहां पर नेजवान पजाइकों एक पास ही के क्षेत्र शाक से बुलाए गए सनाइयों के बीच पुरानी शत्रुता के कारण लड़ाई हो गई। इस लड़ाई का अभ्यास सनाइयों की कुल देवी ने उन्हें पहले ही करवा दिया था परन्तु सनाई न माने क्योंकि उनके मुख्य जल स्त्रोत हिऊण तथा देवी स्थल नाओ में पजाइको ने कांटे लगाए थे, जिसका अर्थ उस समय यह माना जाता था कि यदि इस प्रकार आमान्त्रित दल मेले में नहीं आता तो वह कायर है। अतः सनाई मेले के लिए तैयार हो गए। जब वे रिजंट में पहुंचे तो पंजायकों ने पत्थरों की वर्षा से उनका स्वागत किया। जिसमें ग्यारु नाम के सनाई की मृत्यु हो गई। कुछ समय पश्चात् ग्यारु की आत्मा ने सनाइयों को कई प्रकार से भयभीत किया और अनुरोध किया कि सनाई उसकी अल्प मृत्यु का पजायकों से बदला लें। इस पर झीणू नाम के एक नवयुवक ने रिजंट जा कर पजायकों के मेहर सिंह नाम के व्यक्ति का सिर काट लिया और उसकी चोटी अपनी कुल देवी के मन्दिर में लाकर सनाइयों की प्रतिशोध की ज्वाला को शान्त कर दिया। लोकगीत संक्षेप में इस प्रकार स्वरबद्ध किया गया है :—

ठारी मुलैं ठेकरैं, खुमले पाए रे।
खुमली दी बातड़ी, छाडी उछबूए लाए रे॥
केरे री मलाइयैं, मुलैं मलाए रे।
बिशु लाणा रिजंटे, बाड़णा सनाए रे।
लाणी गाए कौन्डलैं, रिंगौ चौड़के राणे रे।
जागा बाड़े नाओ रे, हिउणो रो पाणे रे॥

ग्यारु देओ धीरजू, गांव दी धाओ रे ।
बारी बीशौ सनाई री, खुमली खँ आओ रे ॥
जागा उत्तरे नाओ रे, दैओ ले कीशौ रे ।
डेवे न खुन्दा बिशु खे, हारते धीशौ रे ॥
कोठै लागै सलाइन्दै, शाकी रै फीन्गै रे ।
धौणू कौरो न सूथणो, डांगरो डींगे रे ॥
फागीया लाए कोलीया नगारै दे काछू रे ।
चौड़ी औणी रा खोशींया, फिरदा न पाछू रे ॥
फुल कौरी फूलटू डालटे दाए रे ।
खुन्द सनाए गौआ तौबैं रिजंट खँ जाए रे ॥
पूर्वो रे जूणी पौछमी खँ बीते रे ।
ढ़ोलै लागे ग्यारु दे, उदें ढ़ाकौ दे दीते रे ॥
काटी ले बाकरे, गाड़ी लो कापौरे ।
बारो लागो बिशौ दो ग्यारु रो पोपौ रे ॥
जागा छोड़ नाओ रे पूछणे लाए रे ।
ग्यारु रे लागै बौदलै खँ, रिजंट खँ जाए रे ॥
झिणू देओ सनाई रा नाचेओ रा फेरा रे ।
ग्यारु रै डेऊ बौदलै खँ देए डेऊणै रे बेरा रे ॥
जागा उत्तरौ मौजी दे कीमै दा दैओ रे ।
यासं री तुएं रातेए रिजंट खँ डैओ रे ॥
फुल कौरी फुलटू डालटे दाए रे ।
नेहरसिहौ दे डांगेरे, झिणूए लाए रे ॥
मौजे थीया रामीए रा, जीबौ रा लाटा रे ।
आज गोआ पजाइका, ग्यारु रा साटा रे ॥
ओथले दे भौरटे, जांगले दा राणा रे ।
चूड़थू पजायको रा, नाओ खँ आणा रे ॥

वास्तव में इस प्रकार की व्यर्थ की शत्रुता से उत्पन्न वाद-विवाद आज के प्रगतिशील युग में अभिशाप समझा जाता है। वर्तमान समय में देश के लिए लड़ना ही वीरता का प्रमाण है जिसमें चौपाल क्षेत्र भी पीछे नहीं है। यहां के अनेक नौजवानों ने भारत मां की रक्षा हेतु अपने प्राणों की आहुति प्रदान की है जिनमें प्रमुख स्व० श्री हरि सिंह जी है जो सेना में द्वितीय लैफटडैन्ट के पद पर आसीन थे और 1965 में भारत पाक युद्ध में शहीद हुए। श्री हरि सिंह जी को बचपन से ही देश सेवा का शौक था। सभी सम्बन्धियों के विरोध के फलस्वरूप भी वे सेना में भर्ती हो गए और अपना जीवन अपने देश की सेवा करते हुए भारत मां के चरणों में समर्पित कर दिया। लोकगीतकार ने भारत के इस सपूत को सुरों में डाल कर इस प्रकार अमर कर दिया है :—

फूल कौरो फुलटू डालटे दाए, दाए रे हौरीसिहां लेफटीडौन्टा।
बौंए लाए हौरीसिहा फौजौ रे काए, बाए रे हौरीसिहा लैफटीडौन्टा॥
पाणी दे पौइतो दूधौ दा खोआ, खोआ रे हौरीसिहा लैफटीडौन्टा।
दौशुई पौडेओ भौरती होआ, होआ रे हौरीसिहा लैफटीडौन्टा॥
गाओ सुए गीटे दामटा भाजा, भाणा रे हौरीसिहा लैफटीडौन्टा।
मीनँ री छुटी दा छोरो खँ आजा, आजा रे हौरीसिहा लैफटीडौन्टा॥
शाड़ो रँ मीनँ दो पौड़ो लो धामौ, धामौ रे हौरीसिहा लैफटीडौन्टा।
जौंग लागे बौडरँ आजे टैलीग्रामौ, रामौ रे हौरीसिहा लैफटीडौन्टा॥
तुएं होलँ हौरीसिहा दूधौ रँ धोऐ, धोऐ रे हौरीसिहा लैफटीडौन्टा।
बौम फुटो बौडरँ टुकड़ँ होऐ, होऐ रे हौरीसिहा लैफटींडौन्टा॥

वन निगम
चौपाल 171211
ज़िला शिमला (हि० प्र०)

हिमाचल प्रदेश की प्राचीन रियासत : नरपुर

—डॉ॰ कोमल कुमार कोहली

पठानकोट से धर्मशाला मार्ग पर यहां के राज्य की पुरानी राजधानी नूरपुर अपनी प्राचीन रियासत के कारण बहुत प्रसिद्ध है। यह स्थान पठानकोट से 26 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। नूरपुर को कांगड़ा घाटी का प्रवेश द्वार कहा गया है। नूरपुर तहसील कांगड़ा जिले के उत्तर-पश्चिम में है तथा इसके उत्तर में चम्बा राज्य, पश्चिम में गुरदासपुर, दक्षिण में होशियारपुर जिला और पूर्व में देहरा तथा कांगड़ा है। चक्की नदी व्यास के साथ इसके दक्षिण में बहती है जो तहसील की दक्षिणी सीमा बनाती है।

नूरपुर का प्राचीन नाम धमेरी था जो कि उदुम्बर नाम से वृक्ष से लिया गया है। नूरपुर में आज भी उदुम्बर के वृक्ष पर्याप्त रुप में मिलने से कनिंघम ने नूरपुर प्राचीन-औदुम्बर राज्य के अन्तर्गत माना है। नूरपुर की सीमा से लगते हुए क्षेत्रों में कुछ सिक्के प्राप्त हुए है जिनके आधार पर नूरपुर की प्राचीनता मालूम होती है। पंजाब संग्रहालय में औदुम्बर 'राजा धरघोष' का चांदी का गोल सिक्का है जिस पर एक सन्यासी की आकृति है तथा सिक्के के दूसरी ओर परशु सहित त्रिशूल और एक वृक्ष की आकुति है जिसे कनिंघम ने उदुम्बर वृक्ष स्वीकार किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि औदुम्बर नरेश इस वृक्ष को अपना कुल वृक्ष मानते होगे। सम्भवत: उदुम्बर वृक्ष के पूजक होने से ही वे औदुम्बर कहलाते थे।

नूरपुर का इतिहास बड़ा ही रोचक है, यह पठानियां राजपूतों की पुरानी राजधानी थी। यहां का वास्तविक संस्थापक देहली से आया हुआ तोमर राजपूत जेतपाल था। उसने अपने से पहले शासक को 1000 ई॰ में जीतकर पठानकोट को अपनी राजधानी बनाया, इसी कारण इनके वंश को नाम पठानियां पड़ा और इसी नाम से परिवार प्रसिद्ध हुआ। अकबर के समय से पूर्व इस राज्य के संस्थापक का इतिहास अन्धकार में है, परन्तु इसके पश्चात् आने वाले समय में इनके विषय में एतिहासिक जानकारी मुगल इतिहासकारों की पुस्तकों में उपलब्ध है।

अकबरनामा में वर्णन है कि वासुदेव से 1580 ई॰ में उत्तराधिकार में यह राज्य प्राप्त किया। इसको राजा वसु भी कहा जाता था। इसने राज्य प्राप्ति के बाद धमेरी (नूरपुर) को अपनी राजधानी बनाया। 1585 ई॰ में राजा व ने अकबर के विरुद्ध विद्रोह कर दिया जिसका उल्लेख बादशाह नामा म मिलता है।

नूरपुर में राजा वसु ने एक विशाल नैसर्गिक दुर्ग बनवाया। इतिहासकारों के अनुसार वह दुर्ग और खण्डहर मन्दिर अपने निर्माण के कुछ ही वर्षो पश्चात् मुस्लिम हमलावरों द्वारा नष्ट प्रायः कर दिया गया। परन्तु आज भी वह जिस अवस्था में है उसमें उसका अपना ही आकर्षण है जो कि राजा की कला अभिरुचियों को प्रकट कर रहा है।

इस रियासत का सुप्रसिद्ध राजा जगत सिंह हुआ जो कि वासुदेव का कनिष्ठ पुत्र था, अपने भाई सूरजमल की मृत्यु के पश्चात् 1619 ई० में राजगद्दी पर बैठा। उसने 1619 से लेकर 1646 ई० तक शासन किया। वह मुगल सम्राट जहांगीर का समकालीन था। मुगल सम्राट के साथ जगत सिंह के बहुत अच्छे सम्बन्ध थे। सम्राट जहांगीर की पत्नी उसको (जगत सिंह) बहुत मानती थी और वह उसे बेटी कहकर सम्बोधित किया करता था। यहीं कारण है कि उसके लम्बे शासन काल में इस रियासत ने बहुत उन्नति की। नूरपुर के कवि गम्भीरराय ने राजा जगतसिंह की अपनी कविता में बहुत प्रशंसा की है। हिमाचली आज भी इनकी महिमा के गीत गाते है—

'जगता राजा, भगता राजा, वासदेव दा जाया,
सिन्धु मारे, सागर मारे, हिमाचल डेरा लाया,
आकाश को अरबा कीत्ता, तां जगता कहाया'।

□ □ □ □

"कोने ऐसे जोर जंग जग में जगत सिंह।
जिन मख्याला लियो है भूप बीच कियो॥
गई है खबर देश-देश यह बात है।
साहन सों कर रठ बैठो देश मउमास॥
जगत हलायो एक जगता न हलाई।
सकुचे सराजी सुन सटके समरकंदी॥
दुनिया को दौर हुतो दोनों है दिली सकी।
बलख-बुखारे न पता पलग लागे रन संकत॥
सिपाहां पे संक सम मेस को।
कहत गम्भीर राय राजा वासुदेव सुत॥
तों लों करो राज जों लों माथे मन शेष की।
खुरी में कन्धार लई खुरासान रोर गई॥
परी है हरेउ हुई जगत नरेस को।"

इतिहासकारों के अनुसार 1622 ई० की बसन्त काल में सम्राट जहाँगीर तब कांगड़ा घाटी में आया जब सीबा से आकर नूरपुर और पठानकोट को वापस लौट रहा था। उसके साथ साम्राज्ञी नूरजहाँ बेगम भी थी उन दोनों के सम्मान में धमेरी का नाम बदलकर नूरपुर रखा गया। तुज़के जहांगीरी तथा बादशाहनामा के इतिहास से भी इस स्त्रोत की पुष्टि हो जाती है। इस यात्रा के सम्बन्ध में एक बहुत ही रोचक प्रसंग है—नूरजहां नूरपुर के सौंदर्य से इतनी प्रभावित हो गई थी कि उसने यहां एक महल बनाने की इच्छा सम्राट के आगे प्रकट की। सम्राट जहांगीर को भी यह स्थान बहुत सुन्दर लगा और उसने यहां एक महल बनाने का आदेश दे दिया। परन्तु यह बात जगत सिंह को नहीं भायी तथा उसने अपनी चतुराई से नूरजहां को उसके इस उद्देश्य से हटा देने के लिए एक चाल चली और उसने जानबूझ कर बहुत से घेघ (गिलड़) के रोगियों को भवन निर्माण की तैयारी के लिए मजदूरी पर लगाया। वह बादशाह और बेगम को यह दिखाना चाहता था कि इस भू-भाग की जलवायु के कारण यहां इस रोग से अत्याधिक जनसंख्या ग्रसित है और यह तथ्य ठीक भी है। नूरजहां यह देखकर घबराई कि कहीं शाही परिवार भी इस रोग की लपेट में न आ जाये तथा उसने बादशाह को भवन निर्माण के विचार को स्थगित करने का परामर्श दिया। इस प्रकार जगत सिंह की योजना सफल हो गई। वह राज परिवार को दूर रखना चाहता था जिससे वह चैन की सांस ले सके। नूरपुर के लोग आज भी खड्ड के पार इस महल के खण्डहरों की ओर ईशारा करके यह कहानी सुनाया करते हैं।

राजा जगत सिंह का नाम ब्रजराजस्वामी मन्दिर के कारण भी बहुत प्रसिद्ध है। कृष्ण की काले संगमरमर की भव्य मूर्ति नूरपुर के इस मन्दिर में प्रतिष्ठित है जो कि उनके द्वारा चित्तौड़ से लगभग साढ़े तीन सौ वर्ष पूर्व यहां लाई गई थी। उसी समय एक मौलसरी का पौधा भी लाया गया था जो आज भी इतने वर्ष बीतने के बाद भी हरा भरा है।

राजा जगत सिंह का उत्तराधिकारी रूप सिंह (1646-1661 ई०) हुआ। इनके राज्यकाल से सम्बन्धित ऐसा कोई लेखा पत्र प्राप्त नहीं हुआ जिससे उनके शासनकाल की विशेष जानकारी प्राप्त हो सके। इसके उपरान्त इनके पुत्र मान्धाता ने 1661 से 1700 ई० तक तथा दयाधाता (मान्धाता का पुत्र) ने 1700 से 1735 ई० तक शासन किया। यद्यपि दयाधाता के परिवार की वंशावली का विषय विवादास्पद है। अतः दयाधाता का उत्तराधिकारी पुत्र फतेह सिंह को ही माना जा सकता है। देशीय इतिहास और डब्ल्यू. जी. आर्चर के अनुसार इनका शासन 1735 से 1770 ई० तक रहा। तत्पश्चात फतेह सिंह के उत्तराधिकारी पुत्र पृथ्वी सिंह ने 1770 से 1805 ई० तक शासन किया।

इस वंश का अन्तिम राजा वीर सिंह जो कि पृथ्वी सिंह का एक मात्र पुत्र था, 1805 ई० में गद्दी पर बैठा। इसका जीवन राज्य प्राप्ति के कुछ समय बाद से ही संघर्षों में व्यतीत होने लगा। उस समय महाराजा रणजीत सिंह ने पंजाब में अपना राज्य स्थापित कर लिया था और धीरे-धीरे अपना साम्राज्य पहाड़ी प्रदेशों की ओर बढ़ा लिया। वीर सिंह उनके आक्रमण के शिकार बने क्योंकि महाराजा

रणजीत सिंह ने 1815 ई० में सियालकोट में एक विशाल सम्मेलन का आयोजन किया जिसमें सभी सरदारों व सामन्तों को निमन्त्रित किया गया। वीर सिंह इस सम्मेलन में नहीं गए। महाराजा की आज्ञा का उल्लंघन करने पर वीर सिंह पर एक निश्चित धनराशि का दंड देने को कहा। वीर सिंह निश्चित धनराशि नहीं दे सका और प्रजा को साथ लेकर सिक्खों के विरुद्ध झंडा गाड़ दिया। विद्रोह असफल रहा और वह अंग्रेजी क्षेत्र की ओर भाग गया। इस प्रकार वह अपने जीवन का अधिकांश भाग पहाड़ी प्रदेशों अर्की, चम्बा, डमटाल और फतेहपुर आदि स्थानों पर भेस बदल कर व्यतीत करता रहा। उसने इस दौरान नूरपुर राज्य को प्राप्त करने की अनेकों योजनाएं बनाई परन्तु उसका यह दुर्भाग्य ही था कि उसे प्रत्येक बार असफलता का सामना करना पड़ा। भाग्य ने केवल इतना ही उसका साथ दिया कि वह अपने पैतृक दुर्ग के सामने अन्तिम सांस ले सका। परन्तु मरते समय उसको सांत्वना दी गई कि उसके शत्रुओं को हरा दिया गया है। इस समाचार से उसके चेहरे पर अन्तिम मुस्कराहट दिखाई दी।

ब्रिटिश सरकार ने 1846 ई० में सिक्ख सरकार को हरा कर पहाड़ी राजाओं की रियासतें अपने अधिकार में कर लीं और राजाओं को सन्तुष्ट करने के लिए उन्हें जागीरें दे दीं। राजा वीर सिंह की मृत्यु के समय उसका पुत्र जसवन्त सिंह दस वर्ष का था। गवर्नर जनरल के एजेन्ट सर हेनरी लारेन्स ने बीस हजार की जागीर इस शर्त पर देनी चाही कि वह नूरपुर न रहे लेकिन वीर सिंह के अभिमानी पुत्र ने अपने जन्म अधिकार को छोड़ कर जागीर स्वीकार नहीं करनी चाही। एक वर्ष बाद 6,000 रूपए वार्षिक पेन्शन जागीर के रूप में लेनी स्वीकार कर ली। 1182 ई. में जसवन्त सिंह की मृत्यु पर उसका शिशु पुत्र राजा गगन सिंह (जन्म 1882 ई.) उसका उत्तराधिकारी माना गया। इनका अधिकांश समय खुशीनगर (नूरपुर) में ही व्यतीत होता रहा, 1941 ई. में इनका देहान्त हुआ। गगन सिंह के पुत्र राजा देवेन्द्र सिंह ने 1941 से 1970 ई. तक पठानियां वंश का प्रतिनिधित्व किया। उनकी मृत्यु के बाद उनका पुत्र साधारण राजपूत की तरह रह रहा है क्योंकि राजा का खिताब देवेन्द्र सिंह के साथ ही समाप्त हो गया था।

अतः नूरपुर क्षेत्र अपनी राजनैतिक गतिविधियों से पूर्ण रूपेण प्रभावित होता रहा यद्यपि इस क्षेत्र के शासकों को अनेक आक्रमणों का सामना करना पड़ा फिर भी यहां के शासक अपनी कलात्मक अभिरुचियों के प्रति उजागर प्रतीत होते रहे। यही कारण है कि उस समय इस क्षेत्र में लघु चित्रांकन और भित्ति चित्रण का कार्य बहुत संख्या में हुआ। यहां के चित्रों का मुख्य विषय—रामायण, महाभारत तथा श्रीमद्भागवत पर आधारित रहा, कहीं-कहीं आखेट चित्र, नायक-नायिका चित्रण, पशु-पक्षी चित्रण व आलेखनों आदि को सूक्ष्मता के साथ रूपायित किया गया जो आज भी उनके गौरवमय अतीत की याद को अमर बनाए हुए है।

मोहन स्कूल,
सोलन ब्रूरी (हि.प्र.)
173214

भंगाल रियासत : इतिहास के वातायन से

—देवेन्द्र कश्यप

भारतवर्ष की स्वतन्त्रता के पूर्व देश की अन्य रियासतों की भांति 15 अप्रैल, 1948 को "हिमाचल प्रदेश" के नाम से एक अन्य पर्वतीय प्रान्त का गठन किया गया था। इससे पूर्व यह क्षेत्र अपने आदिकाल में अनेक छोटे-छोटे मुखियों के अधीन था। उस समय इन मुखियों को **राणा** या **ठाकुर** कह कर पुकारा जाया करता था। इसी बात को हम इस प्रकार से भी कह सकते हैं कि उस समय के वास्तविक शासक राणा या ठाकुर ही थे। प्राचीनकाल में जब यवनों का प्रकोप मैदानी इलाको में अधिक बढ़ गया, तब राजपूत लोग राजस्थान तथा अन्य क्षेत्रों से भाग कर इस पर्वतीय भू-भाग में आकर बसने लगे थे। इस बात की पुष्टि हमें अनेक पहाड़ी राजाओं की वंशावली से होती है। विलासपुर राजवंश अपना सम्बन्ध "महाभारत" के योद्धा शिशुपाल से जोड़ता है। इसी प्रकार से मण्डी के राजवंश का सम्बन्ध भी "महाभारत" से ही जोड़ा जाता है। इन राजाओं ने आकर यहां के पैतृक राजाओं तथा ठाकुरों को हरा कर अपनी-अपनी रियासतों की नींव रखी थी।

इन प्राचीन रियासतों में से 'भंगाल' रियासत भी एक थी। इस रियासत का क्षेत्र कांगड़ा, कुल्लू, मण्डी तथा चम्बा के मध्य पड़ता था। इसका अधिक भाग दक्षिणी धौलधार के बाह्यांचल सहित, कांगड़ा तथा कुल्लू के मध्य व्यास नदी तक फैला हुआ था। रावी नदी की घाटी में पड़ने वाले क्षेत्र को बड़ा भंगाल तथा कांगड़ा और कुल्लू के मध्य में अब जो क्षेत्र पड़ता है, वह छोटा भंगाल कहलाता था। पपरोला लनोढ़ एवं रज्जड़ मूल भंगाल के क्षेत्र थे। इन क्षेत्रों को कांगड़ा, मण्डी तथा कुल्लू ने अंग्रेजों के आगमन से पूर्व ही आपस में बाँट लिया था।

भंगाल रियासत की स्थापना लगभए 1200 ई० में या इस से भी पूर्व मानी जाती है। इसकी राजधानी बीड़ भंगाल में पड़ने वाले "बीड़" नामक स्थान पर थी। कहा जाता है कि इस रियासत का संस्थापक एक ब्राह्मण था। अन्य पहाड़ी रियासतों की भांति शक्ति ग्रहण करने के उपरान्त इसके संस्थापक को भी राजपूत माना जाने लगा। इन राजाओं के नाम के साथ "पाल" परसर्ग जुड़ता था तथा ये चन्द्रवंशीय थे। इनके गोत्र का नाम "भंगालिया" है।

भंगाल रियासत में पड़ने वाले क्षेत्र की स्थिति विलक्षण होने के कारण ही उसकी तीन शक्तिशाली पड़ोसी रियासतों-कांगड़ा, मण्डी, और कुल्लु ने इसका अतिक्रमण करने के लिए सदैव ललचाई

हुई नज़रों से इसे देखा। सुकेत के इतिहास से भी इस बात की पुष्टि होती है कि मदनसेन ने 1240 ई० में अपनी सेना के साथ व्यास नदी को पार करके अपने सीमांत क्षेत्र दड़ांगा तथा गुमा के राणाओं को पराजित कर दिया था। जो सम्भवतः उस समय भंगाल रियासत का भूभाग था। छोटा भंगाल में पडने वाले क्षेत्रों-चौहार तथा कोकसवर को कुल्लू में पड़ने वाली एक छोटी सी रियासत लॉग ने अपने अधिकार में ले लिया था। इसके उपरान्त कुल्लू के राजा जगत सिंह ने लॉग सहित इस क्षेत्र को अपने राज्य में मिला लिया था।

1637 ई० के लगभग मण्डी के राजा सूरत सेन ने अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार उत्तर की ओर करना चाहा और इसी उद्देश्य से भंगाल पर आक्रमण कर दिया। कुल्लू के राजा जगत सिंह ने इस आक्रमण का विरोध किया तथा इस आक्रमण को विफल कर दिया। भंगाल रियासत की इस सहायता के बदले में कुल्लू के राजा जगत सिंह ने अपनी रियासत के साथ लगने वाले कुछ क्षेत्र को अपने राज्य में मिला लिया था।

भंगाल रियासत का सुप्रसिद्ध राजा पृथ्वी पाल हुआ है। राजा पृथ्वी पाल, मण्डी के राजा सिद्ध सेन का दामाद था। कुल्लू के राजा मान सिंह के साथ पृथ्वीपाल की बहन की शादी हुई थी। मण्डी का राजा सिद्ध सेन, अपने दामाद पृथ्वीपाल की रियासत को ललचाई हुई नज़रों से देख रहा था और उसे धोखे से हड़पने की योजना बना रहा था। सिद्ध सेन ने पृथ्वी पाल को बुलाने के लिए एक चाल चली। उसे सुकेत के विरुद्ध सहायता के लिए निमंत्रित किया। पृथ्वीपाल के आगमन पर उसका धूमधाम के साथ स्वागत किया, परन्तु एक महीने के पश्चात् ही उसे दमदमा महल में ले जाकर कत्ल कर दिया था। उसके शरीर को जलाकर सिर को महल के सामने एक स्थान पर दफना दिया गया और इसके उपरान्त सिद्ध सेन ने अपनी सेना को भंगाल के विरुद्ध भेज दिया। पृथ्वीपाल की माता ने मण्डी के विरुद्ध कुल्लू के राजा मान सिंह से सहायता के लिए याचना की। मान सिंह अपनी सेना लेकर आया और लड़ाई के अन्त में बीड़ भंगाल के अतिरिक्त बड़ा भंगाल तथा छोटा भंगाल को भी अपनी रियासत कुल्लू में सम्मिलित कर लिया। अन्ततः मण्डी को इस विश्वासघाती कृत्य के द्वारा कोई लाभ नहीं हुआ मण्डी के राजा सिद्ध सेन द्वारा किए गए इस घिनौने कुकर्म तथा पृथ्वीपाल की इस दुःखद मृत्यु की कथा को लोकगाथा के रुप में अभी तक भी जनमानस में याद किया जाता है।

पृथ्वीपाल के उपरान्त 1720 ई० में रियासत का उत्तराधिकारी रघुनाथ पाल हुआ। इसके राज्यकाल में मण्डी ने दो बार हमला किया जिसे इसने विफल कर दिया था।

1735 ई० में यघुनाथ पाल की मृत्यु हो गई और उसका पुत्र दलेल पाल राजगद्दी पर बैठा। इसी के राज्यकाल में मण्डी, कुल्लू, नालागढ़, गुलेर तथा जसवां रियासतों ने मिलकर भंगाल पर आक्रमण किया गया जिसे असफल कर दिया गया था। राजा ने अपनी विजय का उत्सव शत्रुओं के

सिरों के बुत बनाकर मनाया था। दलेन पाल की मृत्यु 9174 ई० में हुई और बड़ा तथा छोटा मंगाल के अधिकांश क्षेत्र को उस समय तक कुल्लू और मण्डी द्वारा हथिया लिया गया था।

1749 ई० में मानपाल राजगद्दी पर बैठा और यह इस वंश का अन्तिम उत्तराधिकारी कहा जा सकता है। इसे उत्तराधिकारी के रुप में केवल लनोढ़, पपरोला तथा रज्जड़ के ताल्लुके ही मिले थे। यह मुगल सम्राटों से सहायता प्राप्त करने के उद्देश्य से दिल्ली जा रहा था लेकिन मार्ग में ही इसकी मृत्यु हो गई। कांगड़ा ने रियासत के शेष क्षेत्र-लनोढ़ तथा पपरोला को छीन कर अपने साथ मिला लिया और सम्पत्ति गुलेर के हिस्से आई थी।

मानपाल की विधवा पत्नी ने, अपने छोटे बच्चे को साथ लेकर चम्बा के राजा राज सिंह से शरण मांगी। इस याचना को राजा के स्वीकार कर लिया और उसे एक छोटी सी जागीर प्रदान कर दी।

1785 ई० में कांगड़ा के राजा संसार चन्द ने अपनी लड़की की शादी निहालपाल के साथ कर दी। राजा मानपाल का पिता उच्चलपाल अपनी पैतृक विरासत को पुन: प्राप्त करने के लिए मण्डी रियासत के विरुद्ध सेना लेकर गया लेकिन वह इस प्रयास में असफल रहा था। इसके उपरान्त शीघ्र ही मण्डी तथा कुल्लू के राजाओं ने कांगड़ा के तत्कालीन राजा संसार चन्द को पांच लाख रुपये दिए ताकि भंगाल रियास के क्षेत्र को उनके पास ही रहने दिया जाए।

इसके उपरान्त शीघ्र ही उच्चलपाल अपने तीन पुत्रों तथा एक पुत्री को राजा संसार चन्द के आश्रय में छोड़ कर स्वर्ग सिधार गया। उच्चलपाल का सबसे बड़ा पुत्र राम पाल निस्सन्तान ही 1843 ई० में चल बसा और उसके छोटे भाई बहादुर पाल ने अपनी पैतृक सम्पत्ति को प्राप्त करने का प्रयत्न किया, लेकिन इस में वह असफल रहा और 1853 ई० वह स्वयं भी परलोक सिधार गया। इस प्रकार से यह राजवंश विलुप्त हो गया।

मकान न० 28-ए
सैक्टर 14
चण्डीगढ़-160 014

कांगड़ा में गद्दी–जीवन

डॉ० युगल किशोर डोगरा

हिमाचल प्रदेश अप्रतिम, अनिन्द्य सौंदर्यागार है। इसकी पल-पल परिवर्तित छटा, प्राकृतिक लुभावनी अद्वितीय आभा, रससिक्त विभिन्न बोलियां, भोले-भाले-निरीह निश्छल-कर्मठ लोग, ऊबड़-खाबड़-संकर कंटका कीर्ण मार्ग, हिमाच्छादित उतुंग-शृंग-शृंखलाएँ, मन्द-सुगन्ध-मदिर वायु के झोंके, कल-कल निनाद मयी सरिताएँ, नव यौवनांगी तरल-हास-विलासमयी प्रमदाएँ निस्संदेह निर्वाच्य एवं अवर्ण्य हैं। नगाधिराज हिमालय के आंचल में अवस्थित यह हिमाचल उपत्यका क्लिन्न-क्लांत, श्रान्त, विदग्ध हृदय को एक चिदानन्द शान्ति की प्रदात्री है।

यहाँ का जन जीवन एक अनूठे ही ढंग का है, जिसे पढ़कर अभूतपूर्ण मनः शान्ति प्राप्त होती है। यहाँ की अप्सराओं तुल्य ललनाएँ सौन्दर्य की ऐसी प्रतिमूर्त्ति हैं कि बड़े-बड़े बीतराग यति समाधिस्थ होते हुए भी अपने लक्ष्य-कर्म को विस्मर कर उस सौन्दर्य को अपने तृषित चक्षुओं से पीने के लिए लालायित और उत्कंठित हो जाते हैं। यहां अनेक प्रकार की जातियाँ और धर्मों के लोग अपना जीवन-यापन करते हैं, इनमें चम्बा के 'गद्दी' अपने एक वैशिष्टय और शीर्षस्थ स्थान के अधिकारी हैं।

चम्बा से लगभग 50 किलोमीटर दूर भरमौर में 'गद्‌दयार' प्रदेश जिसे 'गदेरन' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है, नामक स्थली इन गद्दियों की पुनीत वन्धा जन्म भूमि है। इसी प्राकृतिक आभा में इनका जीवन-पल्लवन होता है। इनका प्रमुख व्यवसाय है—भेड़-बकरियां पालना अर्थात, गडरियापन। यह 'गडरियापन' शब्द ही विकृत रूप धारण करके 'गद्दी' बन गया प्रतीत होता है।

यहाँ सर्दियों में काड़के की सर्दी पड़ती है, तब ये लोग कांगड़ा की रम्य पहाड़ियों में आ जाते हैं। कांगड़ा के लोग बडे स्नेह तथा उत्कंठा से प्रतीक्षोन्मत्त होते हैं और इनको पूर्ण सहयोग व प्रश्रय देते हैं। इनको प्रायः 'मित्र' कहकर सम्बोधित किया जाता है। ये लोग अपने साथ भेड़-बकरियां भी लाते हैं जिन्हें कांगड़ी बोली में 'धण' कहा जाता है। अपने 'धण' के साथ पहाड़ियों पर विचरते हुए ऐसा परिलक्षित होता है मानों शारदीय पूर्णिमा की धवल चन्द्रिका का ही साम्राज्य आच्छादित हो अथवा किसी ने सफेद मखमली चादर ओढ़ ली हों। ये लोग मन्द गति से अपने गन्तव्य की ओर अग्रसर होते हैं। अपने लक्ष्य-स्थल तक पहुँचने के लिए प्राय: 15-20 दिन लग ही जाते हैं। ये लोग अपने

परिवार, भेड़-बकरियों, पशुओं और कुत्तों आदि के साथ चलते हुए शीघ्रता नहीं करते अपितु विदेशी पर्यटकों की भांति प्रकृति का आनन्द लेते हुए पड़ाव दर पड़ाव आगे बढ़ते हैं और लगभग 10-12 मील पैदल चलकर डेरा डाल देते हैं। भेड़ें इनके इर्द-गिर्द बैठी हुई ऐसी आभा दर्शाती हैं मानों सच हिमपात हुआ हो तथा इन भेड़ों के मध्य बैठे लोग ऐसे लगते हैं जैसे नव दुलहन को सब सखियां आकर घेर लेती हैं। भेड़ों की रक्षा हेतु कुत्ते भी साथ होते हैं जो सजग प्रहरी के रूप में पूरी रात्री भौंकते रहते हैं। गद्दी की चिरसंगिनी, प्राणप्रिया पत्नी जिसे कांगड़ी वासी 'मित्रणी' के नाम से पुकारते हैं, दो पत्थरों का चुल्हा बनाकर रोटी का प्रबन्ध करती है। मक्की की बड़ी-बड़ी रोटियां लस्सी अथवा दूध के साथ खाकर ये लोग ऊनी कम्बलों के मध्य दिन की थकान को दूर करने के लिए निद्रामग्न हो जाते हैं जिस प्रकार ग्रीष्मातप की प्रचण्ड प्रखरता से कोई क्षान्त-क्लान्त बटोही किसी सघन पादप छाया में बिना शैय्या के ही सुख की नींद का आनन्द पाता है।

गद्दी भेड़ों के साथ विचरता हुआ जब रसमग्न हो अपनी बांसुरी की सुरीली तान शुष्क कंटकाकीर्ण झाड़ियों के मध्य छेड़ता है तो ऐसा आभासित होता है कि राधा-वल्लभ श्री कृष्ण ही इस ब्रज-धरा पर अवतरित हुए हैं। अपने अन्तस् को रिक्त करके मानों बांसुरी ने अपने अन्तर की सरस-सुधा से रसिकों के कर्ण-कुहरों को तृप्त किया है। एवम् जिसकी लोक-लोकान्तर व्यापी स्वर-लहरी निखिल संसृति की गति को वैपरीत्य प्रदान करती है। उसकी वामांगिन, जीवन सहचरी, प्राणवल्लभा— जिसकी रुप राशि अपरिमेय व अतुलनीय है—नख से शिख तक आभूषणों से खचित, क्षीण कटि में लिपटा डोरा, निर्दोष शुक्र नक्षत्र की भान्ति समुज्ज्वल, दृष्टि मनोज्ञ, प्रस्फुट शरीर-विन्यास, विपुल जघन, उज्ज्वल कुन्दकलि सी धवल दन्तावलि, प्रतिबिम्बित कपोल जिन पर सेब की सी अरुणिमा, अनावृत-उन्मुक्त-अचल यौवन, नीलमणि सी ज्योतिर्मयी आंखें अमृत सी पवित्र दुग्ध-धार बहाते मातृत्व भारवाही पुष्ट समुन्नत वक्षोज तथा उसका प्राणवल्लभ प्रेमी गद्दी —कटि प्रदेश में आबद्ध डोरा, उसमें लगा दरात तथा अग्नि उत्पन्नौजार जिसे इनकी भाषा में 'रणुका' कहा जाता है तथा 'भूकलू' घास जिससे आग पैदा होती है, ऊनी चोला, पैरों में स्थूल दृढ़ जूते, हाथ में बांसुरी तथा एक छोटा सा हुक्का गद्दी और गद्दय का यह अद्‌भुत जोड़ा —रस की किलकारियां मारते, प्रकृति के अथाह, अकूल और अटूट ऐश्वर्य के मध्य त्रिकाल को मुठ्ठी में बांधकर, मृत्यु को जीतकर, तिमिर का वक्षक्छेद कर आलोक को निचौड़ने वाला यह जोड़ा, वस्तुतः अद्‌भुत और अनूठा है।

भोर होते ही खग-वृन्द की चहचाहट से निद्रालस मदिर आंखें जब खुलती हैं तो ये लोग अपनी पर्णशैय्या को त्यागकर पुनः अपने पैरों से पथ को नापने के लिए उद्यत हो जाते हैं। इस प्रकार पड़ाव-पड़ाव पर ठहर कर धीरे धीरे ये लोग अन्ततः कांगड़ा के गावों में, जहाँ इनका पूर्व निर्मित ठिकाना होता है, पहुंच जाते हैं। लगभग प्रतिवर्ष उन्हीं घरों में ठहरते हैं, जिनमें पहले से रहते आए हैं। यहां यह बताना असमीचीन नहीं है कि लेखक के घर में भी एक ऐसा गद्दी परिवार रहता आया है

जो पिछले तीस-चालीस वर्षों से रह रहा है। तत्पश्चात् गद्दी अपने 'घण' को लेकर निकटवर्ती जंगलों में चला जाता है तथा शेष परिवार गांव में ही रहता है। गद्दी के पीछे-पीछे चलती हुई भेड़ें ऐसे लगती हैं जैसे नवदुलहिन व्रीडावनत संकुचाती हुई निज पति का अनुसरण करती है। गद्दण प्रायः ऊन कातने का कार्य करती है तथा साथ ही साथ, जिनके घर में रहते हैं, उनका छोटा-मोटा कार्य भी कहती हैं। पहले जब धान कूटने वाली मशीनें नहीं थीं तो ये लोग धान बहुत कूटते थे, परन्तु अब चूंकि इस मशीनी युग में मशीनों की भरमार है, अतः यह काम प्रायः लुप्तप्राय ही हो रहा है। मर्द लकड़ी चीरना, पत्थर तोड़ना, बोझा ढोना तथा ऊनी चादरें बुनना आदि कार्य करते हैं।

ये लोग देवी-देवता को बहुत मानते हैं तथा बड़ा श्रद्धा भाव रखते हैं। देवताओं को प्रसन्न रखने के लिए 'जागरा' या 'नुआला' भी दिया जाता है जो रात के समय सम्पन्न होता है। इस अवसर पर मांस बनाया जाता है। इसमें कई चेले 'खेलते' हैं।

इनकी वैवाहिक परम्परा एवं उसका विधान, रस्म-रिवाज अनूठे ही ढंग का है। यदि कांगड़ा में रहकर कोई विवाह आयोजित हो तो वहां का ही खान-पान चलता है। फिर भी मांस अवश्य पकता है। यदि अपने 'गदेरन' में ही कोई विवाह कार्य सम्पन्न हो तो वहां मक्की के आटे को एक बड़े बर्तन में जिसे 'बटलोही' कहा जाता है, डालकर धीमी आंच में पकाया जाता है जिसे 'सिड्डू' कहते हैं। साथ ही अपनी तैयार की हुई देसी शराब साधारण पेय के रूप में प्रयोग की जाती है। खैर, अब तो चावल का प्रयोग भी होने लग गया है। इनके विवाह पढ़ने वाले पुरोहित शिक्षित नहीं होते। अपनी ही बोली में मन्त्रोच्चारण करते हैं। औरतें खूब प्रसन्न मुद्रा में गीत अलापती तथा नृत्य का आयोजन करती हैं। प्रायः ये जो नृत्य करती हैं, इसे 'डंगी' कहा जाता है। यह डंगी नृत्य शिमला की 'नाटी' कांगड़ा का 'झमाकड़ा' की तरह ही लोक प्रिय है। मर्द भी आपस में मिलकर दोनों हाथों को कानों पर रखकर 'झंझोटियां' गाते हैं। ये लोकनृत्य, लोकगीत वस्तुतः लोक संस्कृति को जीवन्ततः व स्थैर्य प्रदान करते हैं। विवाह सम्पन्न होने पर वधू को तीन-चार वर्षोपरान्त उसके ससुराल भेजा जाता है जिसे 'हारफेरा' कहते हैं। तब तक वह अपने मायके ही रहती है। यह इसलिए किया जाता है कि प्रायः अल्पायु में ही विवाह कर दिया जाता है, परन्तु समय परिवर्तन के साथ यह प्रथा तिरोहित होती जा रही है।

ये पहाड़ी लोग अब भी सरल चित्त, उदार, भोले-भाले और सीधे-सादे हैं। परन्तु पहले की अपेक्षा अब इनमें सजगता और चैतन्यता आ रही है। अपनी धार्मिक प्रतिबद्धता तथा सांस्कृतिक निष्ठा के कारण इन लोगों में सच्चाई और ईमानदारी बहुत अधिक है। इसका लाभ उठाकर मैदान के बिणियों और दुकानदारों ने इन्हें बहुत ठगा है। इसका ज्वलन्त प्रमाण इस प्रकार है। धर्मशाला से 15-20 किलोमीटर की दूरी पर 'रेहलू' नामक एक कस्बा है। कहते हैं कुछ समय पूर्व ये गद्दी लोग जब वहां से गुजरते थे तो अपने साथ लाए सामान जैसे धूप, कुठ, ऊन, अखरोट आदि वस्तुओं को उन

दूकानदारों के पास बेचते थे। ये दुकानदार अपनी एक टाँग को यह बताकर कि यह 8-10 सेर है, बट्टे के बदले उसे ही तराजू के एक पलड़े में रखते थे तथा दूसरे पलड़े में उनकी चीज़ें डालते थे। इस प्रकार न जाने 8-10 सेर के वजन के बहाने मनों तक इनकी चीज़ें देखते ही देखते ले लेते थे। दूसरे, यह बणिए जब चीजों की गिनती करते थे तो तेरह के आगे नहीं गिनते थे और 13-13 करके ही सारी चीज खरीद लेते थे। क्योंकि इन गद्दी लोगों को 13 के आगे गिनना आता ही नहीं था। यह प्रमाण है इनकी निश्छलता, सादगी और भोलेपन का।

समग्रतः, यह संक्षिप्त, सारगर्भित चित्र था, गद्दी जीवन का कांगड़ा की पहाड़ियों में। इस प्रकार प्रतिवर्ष ये लोग सर्दियों में अवश्य कांगड़ा में आकर आत्म-सन्तुष्टि पाते हैं। कांगडा की पहाड़ियों का जीवन मैदानी जीवन की तुलना में इन लोगों को अधिक प्रिय और रुचिकर है, जैसे द्रष्टव्य है—

"पहाड़ां दा रहणा चंगा, ओ गद्दिया,
पहाड़ां दा रहणा चंगा ओ !
सहरां सहरां विच नालू जे वगदे,
पहाड़ां विच वगदियां गंगां ओ !
सहरां विच हुंदियां बड़ियां धोखेबाजियां,
पहाड़ां दा धरम है चंगा ओ !!

अर्थात् अरे गद्दी' पहाड़ों का रहन-सहन अच्छा है। शहरों में नालियां बहती हैं, जबकि पहाड़ों में स्वच्छ, निर्मल तोय सरिताएं बहती हैं। शहरों में धोखेबाजी बहुत है, परन्तु पहाड़ों के लोग ईमानदार हैं। कितनी वास्तविकता, निश्छलता एवं आत्मीयता व्यंजित है, इन पंक्तियों में ! इनके जीवन को पढ़कर सत्यतः सच्ची मानवता का दिग्दर्शन होता है। इनका जीवन शान्त है, सौम्य है और है सात्विकता से ओत-प्रोत। अपने 'चम्बा' प्रदेश के प्रति इनके प्रेममय और सहृदय उद्गार देखिए—

"गोरी दा चित लगा चम्बे तीया धारा,
घर-घर चकरु, घर-घर बकरु,
घर-घर मौज बहारां।
घर-घर टिकलू, घर-घर बिन्दलू,
घर-घर बांकियां नारां।
गोरी दा चित लगा चम्बे दीया धारा।"

चम्बा का लोक नृत्य

ड़ंड़ारस एक विशलेणात्मक अध्ययन

[चम्बा के लोक नृत्यों (Folk Dances of CHAMBA) पर लिखी गई (अभी अप्रकाशित) पुस्तक में से कुछ अशों पर सन्दर्भित लेख]

कमल प्रसाद शर्मा

सूर्य अपनी दैनिक यात्रा जब समाप्त करता है तथा संध्या के काले साये रात के अन्धेरे में बदलने लगते हैं, पर्वत के छोर से शशि अपना प्रकाश फैला कर सुखर चांदनी गांव के खेतों में बिखेर देता है, तभी अचानक ही ढोल की ध्वनि शान्त वातावरण में गूंज उठती है और धीरे-धीरे पर्वतों की खामोशी को भंग करती हुई पहाड़ों से प्रति ध्वनि पैदा करके एक ऐसा वातावरण तैयार करती है जो मेरे गांव में लोक नृत्य के समय का सूचक है। लोग (स्त्री-पुरुष) उल्लास से खेतों को पार करते हुए नृत्य के स्थान पर जो साधारणतः गांव देवालय का प्रांगण है, पहुंच जाते हैं और ढोल की थाप— "डाडी नाका-नाका ड़ीणा" पर नाच उठते हैं तथा लगभग रात भर सब कुछ भुला कर नृत्य का आनन्द लेते है।

वह सार्वभौमिक व सनातन सत्य है कि जब मनुष्य प्रसन्नता से चिल्लाया, (कोलाहल) उछला और कूदा तो समाज (जन समूह) में उस उछल-कूद नृत्य और कोलाहल को गायन को नाम दिया। नृत्य और गायन का साधारण अर्थ है आनन्दित और प्रसन्नचित होना या करना। परन्तु नृत्य इससे कहीं अधिक और बढ़कर है जो ज्ञानपूर्वक और अज्ञान पूर्वक दोनों अर्थो से समझा जा सकता है-यथा समाज को हर प्रकार से छोटे-बड़े उत्सव, मेले तीज-त्यौहार तथा सामाजिक प्रसंग (अवसर) पर इकठ्ठा किया जाना इत्यादि। चम्बा के निवासी विशेष रूप से कृषक अपने दैनिक अथवा सामाजिक कार्य जैसे घराओति, घरोति, छोई, रूहणी को बडे चाव और उदारता से करते हैं। और उनकी इस सभी क्रियाओं में नृत्य और गायन का आवश्यक अंग होता है। अतः यहां के समुदायों की संस्कृति उच्च स्तर की है जिसमें लोक नृत्य की परम्परा कोटि युक्त और आनन्द दायक है!

साहित्य, संगीत, नृत्य और कला दो रूपों में पनपती चली आ रही है। कला का पहला रूप शास्त्रीय कहलाता है जो शास्त्रीय नियमों और परम्परा से चली आने वाली परिपाटियों का अनुसरण

करती जलती है। दूसरा रुप प्रचलित या लोकप्रिय रुप है जो साधारण जनता का निधि है जिसे लोक कला से जाना जाता है :—

"Classical is of Classes and Folk of Masses"

जिस भूमि कों शिव भूमि कहा गया है और जहां "शिव" नटराज के रुप में कैलाश (हिमालय) पर नृत्य करते हों, अगर हम उस भूमि को नृत्य की जननी कहें तो कोई अतिश्योकित नहीं होगी। यदि चम्बा के लोक नृत्यों पर हम पूरा अध्ययन करें तो एक ग्रन्थ का रुप ले सकता है परन्तु यहां केवल "ड़ंड़ारस" नृत्य जोकि गद्धी जनपद का लोक नृत्य है, का ही सन्दर्भ लिया जा रहा है।

संक्षिप्त ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि :—

जिला चम्बा की चम्बा, चुराह, भटियात, पांगी और भरमौर पांच तहसीलें हैं। इन तहसीलों में भिन्न-भिन्न जाति-वर्ग के लोग निवास करते हैं इनमें कुछ आदिम जातीय लोग जैसे पांगी में पंगवाले, चुराह में चुराही और भरमौर में गददी भी है। यूं तो गद्दी सारे चम्बा जिला में बसते हैं जहां वे अपनी परम्पराओं, रीति-रिवाजों, धार्मिक आस्थाओं, गीतों और नृत्यों को अवक्षुण बनाएं हुए है। समय की धारा ने उनकी ज़ीवन निधि को बहुत कम प्रभावित किया है।

भरमौर गद्दी प्रदेश है। गद्दी शब्द प्रजातिपरक है। गद्दी पूरे घुमन्तु तो नहीं कहे जा सकते फिर भी गद्दी पारम्परिक रूप से गड़रिये हैं और भेड़ बकरियों का पालन इनका प्रमुख पेशा है। जो अपनी भेड़ों के साथ चारे की तलाश में जगह-जगह घूमते रहते हैं। सर्दियों में ये लोग कांगड़ां, मण्डी, बिलासपुर और पंजाब के उप-पर्वतीय क्षेत्रों में उतर आते है और गर्मियों में लाहौल, पांगी स्थित ऊँचे पहाड़ों पर चरागाहें इनका आवास बन जाती है।

हर्मन गोट (Hermann Goetz) गदिदयों के बारे में लिखते हैं "गद्दी (गद्देया) अर्धघुमन्तु आदिवासी (आदिम जाति) हैं जो प्राय: "टका देश" पंजाब में बसते थे। यद्यपि मौलिक रुप से यह लोग हिन्दुकुश के इलाकों से आए क्योंकि इनका सम्बन्ध "काफिर" जनपद से था हम यह निश्चत नहीं कर पाये कि "शाही" जनपद के और मुस्लिम आक्रमणों ने उनको कांगड़ा में कब धकेला। "वह आगे लिखते हैं कि "गद्दी 10 वीं शताब्दी ई० से पहले यहां नहीं बसे थे"। गद्दी के सामान्य (व्यापक) नाम के अर्न्तगत, ब्राह्मण, राजपूत, खत्री व ठाकुर आते हैं इसके अतिरिक्त सिफी, बाढ़ी, रिहाड़ा एवं हाली जातियाँ भी गद्दी सम्प्रदाय में आते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि गद्दियों का मूल आवास भरमौर की बुढ़ढ़ल घाटी था। बुढ़ढ़ल नदी रावी की सहायक नदी है और इसकी घाटी बर्फ से ढके पर्वतों, जंगलों और चरागाहों से मिलकर बनी है। दसवीं शताब्दी में राजा नारदपाल के शासन काल में गद्दी सेना ने कुल्लु पर आक्रमण किया था और जिस स्थान पर गद्दियों ने डेरा (पड़ाव) डाला था उसको आज भी कुल्लू में गद्दी पधर से जाना जाता है।

भरमौर के मार्कण्डे पुराण में ब्रह्मपुराकास, बराहमीर ने ब्रह्मपुरा और पाणिनी (5 वीं शताब्दी ई० पू०) ने गब्दिका कहा है। इतिहासकारों ने इस जनपद को "कुलिन्दों" और डयुवंरों गणों" के अधीन भी बताया है। गुर्जर-प्रतिहारों के अवशेष भी यहां देखे जा सकते हैं। राजा अजय वर्मन के समय (680 ई०) भरमौर में काश्मीर के राजा लालिता दत्तीय ने कनौज के लोगों को यहां बसाया था। जिनकी वंश परम्परा में आज के ब्राह्मण व राजपूत वहां विद्यमान हैं। इन लोगों का मत है कि वे इस राजा के काल में दिल्ली से आकर यहां बसे थे। एक अन्य किवदंती के अनुसार कहा गया है कि "उजड़ा लाहौर बसया भरमौर" अर्थात लाहौर का उजड़ना और भरमौर का बसना, मुगल काल के दौरान मैदान से भारी जनसंख्या का निष्कासन तथा यहां बसने का संकेत मिलता है। पाणिनी द्वारा गद्दियों का पूर्व वर्णन इस बात को सिद्ध करता है कि ये पेशेवर लोग अतीत काल से भी यहां बसे हुए हैं। दसवीं शताब्दी में राजा शैल वर्मा ने भरमौर से राजधानी बदल कर चम्बा ले आए।

डंडारस नृत्य

(1) **उत्पत्ति :** नाटय शास्त्र पर अभिनव गुप्त की टीका (दसवीं शती ई०) तथा राम चन्द्र और गुण चन्द्र के नाट्य दर्पण (12वीं शती ई०) के अनुसार तीन प्रकार के रासक (सामुहिक नृत्य) हैं :—

1. ताल रासक : वर्तुलाकात में घूमते हुए ताली के साथ नृत्य।
2. दण्ड रासक : वर्तुलाकार में घूमते हुए डण्डियों अथवा अन्य वस्तुओं के साथ नृत्य।
3. मण्डली रासक : मण्डलाकार में नृत्य।
   (मण्डल रासक)

इन तीनों भेदों में से दण्डरासक का अभ्रंपश रुप ही "डंडारस कहा जाता है। दूसरी विचारधारा के अनुसार "डंडा-रस" से अभिप्राय इस नृत्य में डंडा बजाने के चातुर्य से ही प्राप्त रस (मजा) से लिया गया है। आदि काल में ताल देने के लिए डण्डियों (Staves) का प्रयोग होता था। उसी समय से इस नृत्य का प्रचलन हुआ होगा और नर्तक अपने हाथों में डंडा लिये नृत्य करने लगे। नृत्य में आपस में डण्डे को टकरा-टकरा कर ताल पैदा किया जाने लगा तथा ताल व लय पर नृत्य किया जाने लगा। इस प्रयोग में डंण्डिया नृत्य (गुजरात) और कोलकलि नृत्य (केरल जवलन्त उदाहरण हैं। कुछ भी यह निश्चित ही है कि इस नृत्य में डण्डे का प्रयोग होता रहा है जो बाद में डण्डे का चातुर्य न

रहने या डण्डे से किसी प्रकार की हानि की शंका के कारण डण्डे का स्थान यहां पर रुमाल अथवा तालियों ने प्राप्त कर लिया। अतः यह नृत्य विधा चम्बयाली में "डंडारस" कहलाती हैं।

बाघ गुफाओं (चौथी व पांचवी शताब्दी) की दीवारों पर भी दण्ड रासक के भित्तिचित्र उपलब्ध है जिसमें स्त्रियों को हाथ में डण्डे लिए आपस में एक दूसरे से टकराते अथवा तालियां बजाते हुए नाचते दिखाया गया है। महाकवि राजशेखर ने भी कर्पूर मंजरी (नौवीं शताब्दी ई०) में 32 स्त्रियों को दंडरासों (दण्डरास) करते हुए वर्णन किया है।

हिन्दु शास्त्रोक्त शिव का नृत्य इस क्रमबद्ध संसार के रूप में माना गया है। चम्बा निवासी समूचे चम्बा को शिवभूमि मानते हैं और बहुत से लोक गीत शिव के नृत्य से सम्बन्धित हैं। यथा "ऐन्चुली" गीत में सृष्टि रचना के सम्बन्ध में वर्णन हैं :—

"सारी-सारी दुनिया नचणा लगोरी तू किनी नचदा महा देवा नचणे रे तांई सारी सृष्टि उपाई
असां लोके नचया नी जान्दा सारी-सारी सृष्टि नचणा लगोगी कने नचदा महादेवी"

अर्थात जब ब्रह्मा-विष्णु महेश ने मिल कर संसार की उत्पत्ति की तब मनुष्य ने हाथ जोड़ कर भगवान शिव से प्रार्थना की कि --हे महा देव, सारी सृष्टि आनन्दमयी नाच रही है और संसार की उत्पत्ति ही नृत्य हेतु की है। हमें नृत्य करना नहीं आता। आप क्यों नहीं नृत्य करते ?—चारों ओर दिशाएं आनन्द विभोर हो कर नाच रही है और बीच में भोले शंकर"।

एक अन्य "मुसाधा" का लोक गीत है जिसमें कहा गया है :—

पावर्ती ने डमरू बजाना शुरु किया और भोले शंकर नाच उठे। डमरु की धुन सारे ब्रह्माण्ड में गूंज उठी और ब्रह्मा, सरस्वती विष्णु व लक्ष्मी के साथ वहां पहुंच गए। यह समय संध्याकाल था।

"नचे राजा भोले शंकर गौरा डमरु बजान्दी हो
धुन सुणी डमरु री ब्रह्मा सरसुति कने आए हो।
नचे राजा भोले शंकर गौरा डमरु बजान्दी हो
धुन सुणी डमरु री विष्णु लक्ष्मी जो लेई आए हो
नचेर ाजा भोले शंकर गौरा डमरु बजान्दी हो
नचने रे तांई सारी सृष्टि उपाई महादेव नचना लगोर ा
नचे राजा भोले शंकर गौरा डमरु बजान्दी हो।"

शिव प्रदोष स्त्रोत्र में भी संध्या नृत्य जो शिव ने हिमालय पर किया उसमें सरस्वति (सरसुति) ने वीणा, इन्द्र ने बांसुरी, ब्रह्मा ने झांझ विष्णु ने ढोल बजाए। लक्ष्मी ने गायन किया और सारे देवता गण शिव के चारों ओर खड़े होकर स्तुति करने लगे।

लोक धारणानुसार भगवान शंकर ने डंडक असुर को मार कर डंडारस नृत्य कैलाश पर्वत पर किया की लोक गाथा इस प्रकार से है :—

डंडक को मारने से पूर्व भगवान शंकर और गण बड़े उत्साह व प्रचण्ड शक्ति से उछले और दण्डक असुर को अपने घेरे (मण्डलाकार) में ले लिया और नृत्य करने लगे। दण्डक को नृत्य में व्यंस्त रखने के लिए गणो ने ढोल के साथ अन्य वाद्यों को ऊंचे स्वरों में बजाया। दण्डक जब नृत्य में लीन हो गया तब शंकर ने उसे धाराशायी कर दिया। गण और शंकर अब प्रचण्ड शक्ति से नाचे तथा नृत्य का नाम पड़ा—"डंडारस।"

रागनी देवी ने अपनी पुस्तक "डासज आफ इण्डिया" में शिव ताण्डव के सात भाव (प्रकार) बताए हैं : जिसमें एक त्रिपुरा ताण्डव का भी वर्णन है जो त्रिपुरासुर संहार के बाद शिव नृत्य की पुष्टि करता है। अतः ऊपर वर्णित लोक गीतों और लोक धाराणाओं द्वारा डंडारस की उत्पत्ति की पुष्टि सहज रूप से होती है।

(2) **नृत्य विधा :** डंडारस साधारण नृत प्रकार का लोक नृत्य है। यह मण्डलाकार में नचाया जाता है। आमतौर पर एक ही वृत में नृत्य किया जाता है परन्तु जब नर्तकों की संख्या अधिक हो जाती है तो दो—तीन वृतों में नर्तकों को एक के बाद दूसरा घेरा डाल कर नृत्य किया जाता है यह नृत्य गद्दियों द्वारा 'जातरा' में किया जाता है नृत्य, भरमौर की 'जातरा' में दोपहर से आरम्भ होकर कभी-कभी दूसरी सुबह तक चलता है। इससे ऋग्वेद के एक कथानक के एक अवतरण की पुष्टि होती है जिसके अनुसार नर्तकों के नृत्य करने पर जो धूल उड़ती थी उसे आकाश अन्धकार युक्त लगता था।

इस नृत्य में केवल पुरुष ही भाग लेते हैं। जाति रंग आदि का भेद भाव नहीं रखा जाता। प्रायः युवक अथवा अधेड़ उम्र के नर्तक ही नाचते है। वृद्ध कुछ क्षण के लिए ही नृत्य करते हैं और फिर नृत्य मण्डल से बाहर आकर बैठ जाते हैं। सारे नर्तकों को एक समान समझा जाता है। एक कुशल नर्तक नृत्य का संचालन करता है जिसे "मोहरी.ए-नाट" कहते हैं। नर्तक कोई बआव-श्रंगार नहीं करते अपितु अपना परम्परांगत पहरावा टोप, चोला, डोरा, कमीज व सुत्थन पहनते हैं। टोप के ऊपर नीलगर (पहाड़ी पक्षी) की कलगी लगाई जाती है और पीछे लाल रंग का रूमाल टोप

से टांक कर चिपकाया जाता है। चोला पहन कर काङा डोरा कमर में बाँध दिया जाता है। एक रूमाल तिकोना कदके चोले को पीठ पर लगा दिया जाता एक गहरे रंग का पटका गर्दन में लटका कर उसके दोनों सिरे कमर के डोरे में ठोंस दिए जाते है। चौले में नीचे सुत्थन पहनी जाती है।

नृत्य के साथ कोई गायन नहीं होता केवल नगारा, ढ़ोल, सहना (शहनाई) काहल, पोहल और रणसींगा लोक वाद्य ही बजाए जाते है बजन्त्री। (वाद्य बजाने वाले) एक तरफ अपने वाद्यों को लेकर बैठ जाते हैं और वाद्य बजाने लगते है जिसे वे "राग" के नाम से पुकारते हैं। प्रयुक्त होने वाले ताल, आम तौर पर आठ, दस, चौदह अथवा सोलह मात्रा के होते हैं। डंडारस प्रायः बारह खुड़की पर नाचा जाता है यानि डंडारस नृत्य में 12 मात्राओं का आवर्तन प्रयुक्त होता है। रणसींगा और काहल बीच-बीच में नर्तकों का उत्साह और नृत्य की गति को बढ़ाते है। नर्तक कभी-कभी मध्य में "हो-हो" उच्चारण द्वारा अपनी भावना को जागृत करते हैं।

3.. **नृत्य रचना भेद** :—

नृत्य बिना विघ्न के लगातार व क्रमिक रूप में होता है। इस नृत्य को क्रम से चार भागों में बांटा गया है।

(क) **मट्ठा डंडारस** :—वाद्यों के मंद ताल पर वर्तुलाकार संदगति में नृत्य किया जाता है। प्रायः यह नर्तक को गतिमय (गर्माना) बनाने के लिए उचित है। नृत्य, नर्तक के बांए-पांव को जमीन पर रख कर आरम्भ होता है तथा शरीर को कोमलता से दांयी ओर झुकाया जाता है। यही क्रम अब बाँए पांव से दोहराया जाता है और नर्तक आधा दांयी तरफ मुड़कर शरीर को सुन्दर और स्वाभाविक प्रकार से झुका देते हैं। भुजा को कन्धे के समतल उठाकर हाथ को धीमा घुमाया जाता है हर चक्र पर उपरोक्त क्रम बार-बार दोहराया जाता है। कभी-कभी नर्तक इसी गति से हाथ में रुमाल लिए हाथों को बेग से आगे पीछे घुमाते हैं। कभी-कभी नर्तक बीच में तालियों का और वाणी (हो-हो-हो) का प्रयोग करते हैं। नर्तक क्रमशः मन्दगति में वर्तुलाकार नृत्य करते हुए अब दूसरे भाग में प्रवेश करते हैं।

(ख) **दरमयानी ड़डारस (मध्य गति)** :—नृत्य में अब कुछ गति बढ़ जाती है अर्थात मन्द से दुगनी गति। बजन्त्री भी अब मध्य लय में वाद्यों को बजाते हैं। हाथ की गति (डांस एक्शन) और पांव की चाल जैसा कि मन्दलय में थी वैसे ही मध्य ताल व लय पर रहती हैं।

(ग) **टुटंवा डंडारस (तीव्रगति)** :—टुटंवा का अर्थ है टुटना। इस भाग के अन्त में नृत्य समाप्त हो जाता है, नृत्य की गति अब मध्य से दुगनीऔर मन्द से चौगनी हो जाती है।

जिसे द्रुत लय भी कहा जा सकता है। नृत्य की गति तीव्र तो होती ही है परन्तु साथ ही साथ शरीर व हाथ पैरों को भी लयानुसार अनेक तरह से इतनी शीघ्रता से घुमाया फिराया जाता है कि इससे नर्तक वर्ग पसीना-पसीना हो जाता है। वाद्यों तथा मुख से मिलती-जुलती तरह-तरह की ध्वनियां निकाली जाती हैं और "हो-हो" की ध्वनि को कई बार दोहराया जाता है। रणसींगा और करनाल बार-बार बजाया जाता है।कभी-कभी तालियां भी बजाई जाती हैं तथा बहुधा नृत्य उछल-कूद में बदल जाता है कभी उकड़ूं (घुटनों के बल) कभी अर्ध-उकड़ूं स्थिति में और कभी एक पांव पर कभी दुड़कू (टाप मार कर) आदि अनेक रूपों में नर्तक नृत्य कुशलता दर्शाते हैं। नर्तक अपनी कमर पर हाथ रख कर उछलता है और अपना बायां पांव जमीन पर रखता है तथा शरीर को लयबद्ध क्रमश: दायें-बायें स्वाभाविक व सुन्दर ढंग से झुकाता है।

कुछ क्षण के लिए "नृत्य और वाद्य" सब कुछ बन्द हो जाते हैं और पुनः आरम्भ होने पर नृत्य चरम सीमा पर पहुंच जाता है इस भाग को "फरार्टी" कहते हैं।

(घ) **फरार्टी** :—अब वाद्य यन्त्रों को अतिद्रुत लय और ऊंचें स्वरों से बजाया जाता है (मध्य लय से आठगुनी) अब नर्तक वर्तुलाकार यानी घेरा छोड कर नृत्य के मैदान में फैल जाते हैं। अपने बाजू कन्धे की सीध में ले जाकर हाथ को ढीला छोड़ देते हैं और नर्तक पांव पर लटटू की तरह पांच सात घुमाव एक तरफ और फिर दूसरी तरफ लेता है। दस पन्द्रह मिनट लटटू की तरह घूमते हैं। "फर्राटी" फुमणी राग पर नाची जाती है अत: इसे फुमणी कहते हैं जिसे लोक भाषा में कहते हैं—ओ फुमणी पेई। इसके साथ ही डंडारस समाप्त हो जाता है। फर्राटी में जब नर्तक घूमता है और चोला हवा के दबाब से चारों ओर फैल जाता है तो ऐसा लगता है कि सरोवर में कमल फूल वायु वेग से कम्पायमान हों।

फरार्टी घुमावदार नृत्य का नाच है परन्तु यह कोई भिन्न न होकर डंडारस का ही एक अंग है। द्रुत या थोड़ा और द्रुत होता हुआ नृत्य चलता है तब बीच-बीच में नर्तक या अन्त में नर्तक लटटू की भांति पांच-सात घुमाव सहित नृत्य करते हैं यही घुमावदार नृत्य का भाग फर्राटी कहलाती है।

निष्कर्ष :—डंडारस चम्बा में प्राचीन काल से चले आ रहे नृत्यों में से एक है। भारत में प्राचीन काल से डण्डा-रास या दण्ड तसिक (हाथ में दण्ड लेकर) वर्तुलाकार में नृत्य किया जाता रहा, जब तक भारत में वाद्य यन्त्रों की उत्पति नहीं हुई थी। अतः नृत्य के साथ लय और ताल बनाए रखने के लिए नर्तक आपस में डण्डे टकरा कर ध्वनि उत्पन्न किया करते थे परन्तु आज यह

नृत्य यहाँ डण्डे के बिना होता है। अगर हम यह मान लें कि नर्तक प्राचीन काल में डण्डे के साथ डंडारस नृत्य करते थे यह प्रथा 9वीं शताब्दी ई० में समाप्त हो गई होगी। इस सन्दर्भ में कर्पूर मंजरी में महाकवि राज शेखर ने लिखा है—

परिब्भमतीउ विचित्रवंधं इमाउ दो सोलहणाच्चणीयो।
खेलंति तालाणुगदणआओ तुहंगणे दीसदी दंडरासा॥

(यह विचित्र प्रकार से परिभ्रमण करती हुई बत्तीस नर्तकियां ताल की अनुगति करती हुई जो क्रिड़ा कर रही हैं तुम्हारे आंगन में यह डण्डारास सा दिखाई पड़ रहा है) इसमें राजशेखर ने हाथ में दण्ड का कोई भी उल्लेख नहीं किया फिर भी ताल की अनुगति का वर्णन किया है जो वाद्य यन्त्रों द्वारा सम्भावित है। इससे हम कह सकते हैं कि चम्बा में भी नौंवी शती ई० में डंडारस बिना दण्ड से ही किया जाने लगा था।

संसार परिवर्तन शील है और इसके साथ-साथ हमारा संगीत भी। संगीत में उदगम् उपरान्त आज तक न जाने कितने परिवर्तन हो चुके हैं। इसी प्रकार समत–समय में लोक नृत्य में कुछ जुड़ता गया और कुछ मिटता गया। परन्तु नृत्य नामकरण वही रहे जैसे कि "डडारस" नृत्य विधा के साथ हुआ है।

मुहल्ला बणगोटू
चम्बा 176310
हिमाचल प्रदेश

पौंग बान्ध में जलमग्न हुई सांस्कृतिक निधियाँ

डॉ वेद प्रकाश अग्नि

(इस शीर्षक के अर्न्तगत लेखक पौंग-बान्ध में जल-मग्न हो चुकी सांस्कृतिक महत्व की वस्तुओं और स्थानों पर प्रकाश डाल रहा है जिनका सांस्कृतिक और ऐतिहासिक महत्व अक्षुण्ण है)

अभी कल की हो तो बात है कि जो हरा भरा लहलहाता जीवन था, आज वह मानव-कृत जलप्लावन का शिकार हो चुका है। पीढ़ियों से संचित जिस धरोहर को जिस चाव से सजा-संवारा गया था आज भी उसका मोह हृदय को खल रहा है। उसे अपने से जुदा होते हुए देख हृदय काँप-काँप जाता है। बाप-दादों से चले आ रहे घर-बार ही काल-ग्रासी बान्ध ने नहीं निगल लिये, वर्षो से पाले-पोसे वृक्षों को भी पृथ्वी परचिर-निद्रा में सुला दिया। इतना ही नहीं कितनी ही महत्व पूर्ण सांस्कृतिक-निधियों को भी अपनी क्रोड़ में छिपा लिया है।

गुलेर से नीचे उतरते हुए माहल-पुल पार करते ही जब हलदूण के जलमग्न क्षेत्र का दृष्य आँखों के आगे घूमने लगता है तो हृदय में एक विचित्र सी कसमसाहट होने लगती है। एक ऐसा मन्थन सा होने लगता है कि मन बरबस अपने आपको विनाश के आमने-सामने खड़ा हुआ पाता है। यह अनुभव हृदय में कँपकँपी की सिहरण पैदा कर देती है। मृत्यु को किसी ने देखा नहीं किन्तु उसका मंजर बड़ा भयानक होता है उसका जीता-जागता रूप किसी ने देखना हो तो वह पौंग-बान्ध के जलमग्न उपजाऊ क्षेत्र को देखकर देख सकता है। जो कभी जीवनदाता अन्नपति देश या क्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध था, जिसे साम्राज्यवादी अंग्रेजों ने जिला कांगड़ा का अन्न-भण्डार (ग्रेनरी ऑफ डिस्ट्रिक कांगड़ा) कहा था। वह आज एक झील बना हुआ क्षेत्र है। मीलों तक इसका नीला-नीला फैलाव ही दिखाई देता है। ज्यों ही काल रात्रि सदृश इसकी भयावनी दृश्यावली आँखों के सामने घूमने लगती है तब जीवन की वास्तविकता का विकट-बोध होने लगती है और हृदय से बरवस यह फूट पड़ता है—

मादरे-गीति की मुहब्बत तोबा,
जिसको जनती है खा लेती है।

लगने लगता है कि आदि पुरुष मनु की पीड़ा उनकी चिन्ता, दुःख और मृत्यु जिसका सृष्टि के प्रारम्भ में पहला अनुभव इस पौंग-बान्ध के नरह्याणा स्थान पर वैवस्त-मनु कश्यप को हुआ था उसकी परम्परा आज भी वपौती में मनुष्य का हिस्सा है।

वैवस्त–मनु कश्यप तथा कश्यपेश्वर महादेव

जालन्धर-पीठ-महात्म्य में उल्लिखित गूढ़ संकेत तथा लोक में प्रचलित श्रुति-कथाओं पर से जाहिर होता है कि ब्रह्मा सृष्टि की आज्ञा पाकर कश्यप नामक वैवस्त मनु ने नरह्याणा के स्थान पर, विपाशा नदी की पुण्यभूमि में स्वयंभूलिंग की आराधना पूर्वक मनुष्य-सृष्टि का प्रसार किया था। यह स्वयंभूलिंग ही कश्यप मनु के नाम पर कश्यपेश्वर महादेव के नाम की प्रसिद्धि हुई। बाद में इसे ही कासव महादेव का नाम दिया गया। यह नाम निश्चय ही कश्यपेश्वर का अपभ्रंश या विकसित रुप है। इस स्थान का इतना महत्व रहा है कि इसके इर्द-गिर्द की पांच कोस भूमि को काशी की पञ्चकोशी परिक्रमा के समान पवित्र परिक्रमा स्थली माना गया है। इसकी महिमा के कितने ही लोक-गीत पौंग-बान्ध के जनपद में प्रसिद्ध रहे हैं। यहा की शिवरात्रि किसी समय महीना भर से ऊपर चलने वाले मेले का उत्साह और उल्लास भरा उत्सव था जिसमें संहस्रों नर-नारी श्रद्धा के फूल चढ़ाते हुए अपने को धन्य मानते थे।

इस स्थान का दूसरा महत्वपूर्ण उत्सव व मेला 'पंजीं' या नाग पञ्चमी का मेला था जिसमें न केवल सारे जनपद, जिला तथा हिमाचल के लोग ही आते थे अपितु अमृतसर और लाहौर तक के 'शाइकीन' भी शामिल होने के लिये आया करते थे। 'नाग' शिवजी के गले के अलंकार हैं। उनके सेवक सन्निकटवर्ती गुण है। शिव तक पहुँचने के लिये उनकी कृपा दृष्टि उतनी ही आवश्यक है जैसे आज के साहब तक पहुँचने के लिये किसी चपरासी की संदृष्टि एक व्यवहारिक अपेक्षा है। 'नाग पञ्चमी के अवसर पर यहां पर हलवा-पूरी तथा माल-पूड़े का भण्डारा हुआ करता था तथा बिना भेद-भाव के सबके लिये लंगर खुला रहता था। चिन्तपूर्णी माता के स्थान से हरिसर और ज्वाली क्षेत्र तक लोग अपने पशु-धन की सुख-समृद्धि, अन्न, दूध-धन की वृद्धि के लिये यहाँ पर अपनी भेंटे चढ़ाते और मनौतियाँ मनाते थे। नेपाल तक पशुपति नाथ के नाथ संप्रदाय के अनुयायी यहाँ रहकर, साधन रत होकर सिद्धि लाभ करते रहे हैं। यहाँ पर ठहरे हुए नाथ-पंथीय महात्मा नरहरि नाथ को भगवान कश्यपेश्वर की कृपा से अपूर्व बौद्धिक वर्चस्व तथा संस्कृत में आशुकवित्व की उपलब्धि का अनुभव हुआ जो पंक्तियों के लेखक को भी प्राप्त है। आज नरहरिनाथ नेपाल में मृगस्थली स्थान पर संस्कृत-विश्व-विद्यालय का संचालन कर रहे हैं और अपने आपमें एक संस्था हैं। इनसे पहले बांगेश्वर नाथ को इसी स्थल पर अन्तर्यामित्व प्राप्त हुआ था। कहा जाता है कि उन्हें मुर्गे-मुर्गियाँ पालने का शौक था। तीर्थ-यात्रा पर जाने से पहले वह उन्हें कुछ लोगों के पास सौंप गये और यात्रा से लौटने पर उन्हें लोटाने को कह गये। परन्तु वह साल छः महीने में न लौट सके लोगों ने मुर्गे खा लिये। जब वह लौटे और अपनी अमानत मांगी तो हीले बहाने करने लगे—कुत्ते और बिल्लियाँ उन्हें खा गई, बताने लगे। बांगेश्वर नाथ ने तत्कालीन गुलेर नरेश से न्याय करने की प्रार्थना की तो कोई उनकी साक्षी भरने को तैयार न हुआ। तब राजा को दुविधा में पड़ा देख उन्होंने कहा कि जिस व्यक्ति या परिवार ने जितने मुर्गे खाए हैं, उतनी बार मुर्गे उसके पेट में बांग देंगे, गवाही भी जरुरी नहीं। कहा जाता है कि दर्शकों

के भरे दरबार में वैसा ही हुआ। जिसने या जिसके परिवार ने जितने मुर्गे खाए थे उसके पेट में उतनी ही बार मुर्गे ने बांगें दी। दर्शक और राजा आश्चर्यचकित रह गया अपराधियों ने अपना अपराध स्वीकार कर दिया तब बांगेश्वर नाथ ने उन्हें क्षमा भी कर दिया, दंडित भी न होने दिया। ऐसे कितनी ही चमत्कारक घटनाएं ज्ञान स्थान से जुड़ी हुई थीं। वर्षा न होने पर 'नदी' का गाए गोबर से लेपन कर गौरी-पीठ को जल से भर देने पर सस्वर रौद्री पाठ करने पर वर्षा हो जाने का अनुभव कई वृद्धों का प्रत्यक्ष देखा हुआ है। इस विषय का सांगोंपोग तात्विक विवेचन लेखक की तैयार की जा रही पुस्तक 'जालन्धर पीठ के देव-बृन्द-रहस्य चिन्तन' में विस्तृत रुप में किया जा रहा है।

मातृश्वर यक्ष तथा यक्ष खड्ड—कश्ययश्वर महादेव से लगभग एक डेढ़ फरलांग की दूरी पर मातृश्वर यक्ष का स्थान यक्ष खड्ड के किनारे पर था। मां सती की उन पर आपार कृपा थी। हाथ से मातृश्वर यक्ष या लोक में बाद में मकोड़ जख के नाम से उनकी प्रसिद्धि रही। भगवती सती की कृपा से कोड़े-मकोड़े और कीट-पतंगों पर उनका पूर्ण अधिकार था। उन्हें मात्र दूध की लस्सी से स्नाने कराने तथा 'ओरा' चढ़ाने घर-बार कीट-पतंगों तथा कीड़े-मकोड़ों की बाधा से सुरक्षित रहते थे। ये देवीय उपाय दिव्य सृष्टि के जीवों के लिए थे, आसुरी सृष्टि के लिए टिक्टवेंटी या डी–डी- टी ही हो सकते हैं। सच्ची संस्कृति अहिंसा, प्रेम और सर्वजीव समभाव सिखाती है, विकृति द्वेष और विनाश को बढ़ावा देती है। मकोड़ू जख जहाँ उपकारी देवता थे वहां वह उग्र भी थे। ठिठोली किसी की उन्हें बरदाश्त नहीं थी। यदि किसी ने विनोद-विनोद में ही कह दिया कि मकोड़ू जख आप तो चीटे-चींटियों के सरताज हैं, हमें भी कुछ दो, तो देखिये फिर तमाशा उसके आगे-पीछे, बैठे आसन पर, खाने के थाल के आस-पास लाल-पीले, काले-रंग–बिरंगे चींटे-चींटियों का आक्रमण। उससे तब तक छुटकारा न मिलेगा जब तक उस धृष्टता की विधिपूर्वक (लस्सी स्नान, प्रदक्षणा और भेंट) क्षमा नहीं मांग ली जाती।

मकोड़ू जख के पास ही कल-कल कर बहती हुई मखाड़ू खड्ड या यक्षखड थी। यह दूसरी खड्डों से भिन्न बारह महीने बहने वाली पवित्र खड्ड थी। ग्रहण, व्यतिपात, श्रावणी सोमवारों के दिनों यहां पर स्नान, अर्घ्यदान आदि से जन्म जन्मान्तर के दारिद्रय नाश का लाभ होता था। आज जातिवाद के विरोधी, जाति-संस्था को तत्व चिन्ता के विवेक से शून्य, महज अटकल-पच्चुओं के भ्रान्त चप्पुओं के सहारे जाति-भागीरथी का अवगाहन करने का दुस्साहस करने वालों की 'मशरूम ग्रोथ' चिन्ता का विषय बनती जा रही है। इन्हीं धन चक्रों के तुफैल से जातीय विद्वेष का विषवृक्ष फूलने-फलने लगा है, अव्यवस्था और तनाव की स्थितियाँ पैदा होने लगी हैं। जाति का मूल आधार गुण वैशिष्ठय का मूल्यबोध और विकास था, वह अब जातिवाद की पंकिल-कलह का आधार बन कर रह गया है। इसी भ्रान्त आधार हर यक्ष जाति, नाग जाति आदि न जाने कैसी-कैसी अँट-शंट व्याख्याएँ होने लगी हैं। जो हो यक्षवाद, जखाड और मकोड़ू जख को आर्येतर मानने का कोई संगत आधार नहीं है। यह शैव

उपासना, रुद्रतत्व के उन्मेष के विभिन्न स्तरों कलात्मक वर्चस्वकी स्थिति है जिस से किसी को नागत्व, किसी को यक्षत्व तो किसी को किन्नरत्व का वर्चस्व अर्थात् क्रमशः विष शान्ति, सम्पत्ति, वृद्धितथा संगीत माधुर्य का ऐश्वर्य प्राप्त होता है। यहां इतना संकेत ही पर्याप्त है, अधिक विस्तार से इस विषय को यहाँ खोलना इस शोध-निबन्ध की सीमा से बाहर जा पड़ेगा। इतना ही कहना काफी है कि मकोड़ूजख और झखाड़ू शिव शासन की सांस्कृतिक-चेतना के अभिन्न अंग थे, हैं और रहेंगे।

अलक्षेन्द्र का भग्नावशेष

परंपरागत किंवदंतियों से प्रतीत होता है कि अलक्षेन्द्र (सिकन्दर) के आक्रमण के समय यहाँ का जन पदीय जीवन बड़ा सुदृढ़ और पुष्ट था। राजा श्री रुप की गौरवशाली राजधानी इसी विपाशा तट वर्तिनी होने से इस बात का समर्थन होता है कि सिकन्दर के आक्रमण के समय यहां का जन जीवन बड़ा समृद्ध था। बड़े-बूढ़ों से सुनी गई इन कि बंदतियों में इतिहास का बहुत सा सत्यांश भरा पड़ा है जिसके भग्नविशेष अब भी उस सत्य का साक्ष्य भरते हैं। जन श्रुतियों की परंपरा के अनुसार चटवाल के पत्तन (नदी व्यास का वह स्थान जहां पौंग बान्ध से पहले नौकाओं से नदी को पार किया करते थे) को पार कर जब अलक्षेन्द्र का सेनानायक डौकल्लू आगे बढ़ा तो उसे यहाँ के गणतन्त्रीय जनपद् का सामना करना पड़ा। उसमें बहुत से उसके शूरवीर वीर गति को प्राप्त हुए। किन्तु उन्होंने यवनानी (यूनानी) सेना को ऐसे कड़े हाथ दिखाए कि आगे बढ़ने से उनका हृदय घबराने लगा। इतिहास साक्षी है कि सिकन्दर की फौजों ने व्यास तर से आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया था। उस मानसिकता के निर्माण में यह मुठ-भेड़ भी निश्चय ही एक जबरदस्त कारण रही होगी। लगता है कि तत्कालीन हरिपुर गुलेर और कांगडा के नरेशों की अगवाणी में यहां के गणतंत्र के लोगों ने उस शक्ति दर्पित विश्व-विजयता सम्राट के अहं को धूल चटाने का ऐतिहासिक काम पूरा किया होगा।

कहा जाता है कि शेष यवनानी सेना तो वापस लौट गई थी। किन्तु डौकल्लू अपने कुछ सामन्तों के साथ नरह्याणा से 'कोल्हे' के स्थान पर बस गया था। उसने अपना राजप्रसाद बनाया था। जिसे आज भी 'बिहारे' के नाम से याद किया जाता है। कई सौ साल पहले यह 'बिहारा' 'प्राकृतिक उत्पात से 'भूगभस्थ' हो गया था, नष्ट-भ्रष्ट हो गया था। इस विषय में कहा जाता है कि डौकल्लू ने अपनी लड़की के साथ स्वयं व्याह करने का अपराध किया और देव कोप से वह 'बिहारे' सहित नष्ट हो गया।

इस दन्तकथा से प्रतीत होता है कि अलक्षेन्द्र के सामन्त के यहाँ बस जाने पर भी स्थानीय जनता ने उस विदेशी, विधर्मी को किसी प्रकार का सामाजिक आश्रयन या महत्व नहीं दिया था। अपनी

वंशरक्षा या सम्पत्तिरक्षा के लिये ही स्वदेश-भ्रष्ट उस सामन्त को मर्यादाहीन और आचार भ्रष्ट होने के लिये बाध्य होना पड़ा। बाद में वह जनरोष का भाजन बनकर भारतीय मान-मर्यादा का काँटा बनने के मार्ग से सदा के लिये हटा दिया गया।

लगभग सौ वर्ष हुए इस बिहारे की ईटें, जो ज़मीन में काफी गहरी दब गई थी उन्हें यहाँ के गणमान्य लोगों ने खुदवाया था। उसमें से कुछ ईंटें नरह्याणा मंदिर (कश्यपेश्वर महादेव) के नाथ पंथि निवास स्थान में भी लगी हुई थीं। पुरोहित तुलाराम भारद्वाज के कुंएँ में इन्हीं इंटों का प्रयोग हुआ था। इन ईंटों का निर्माण कैसी मट्टी और पुख्तगी से हुआ है यह इस बात से ज़ाहिर है कि इनके रंग, चमक-दमक और दृढ़ता पर देश-काल का प्रभाव नगण्य सा प्रतीत होता है। खेद है कि इसके कुछ नमूने, पौंग बान्ध में एक दम जल छोड़ दिये जाने के कारण सुरक्षित न किये जा सके।

अध्यक्ष स्नातकोत्तर हिन्दी-विभाग
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
धर्मशाला।

प्रेम सेतु लामण

शरमा नन्द श्रवण

प्रेम अथवा प्यार हर देह धारियों का मुख्य लक्ष्य है। हर जीव इस को प्राप्त करने के लिए भावुक होता है ऐसा ही हिमाचल प्रदेश जहां पहाड़ी क्षेत्र, नदी नाले व छोटी बड़ी पहाड़ियां जो हरे भरे जंगलों से लदी हैं, वहां छोटे-छोटे गांव हैं जो देखने में निकट परन्तु मिलन में दूरी है, ऐसी परिस्थितियों में भी यहां प्रेम व प्यार होने के कारण शान्ति का स्रोत रहा। लोग कहते भी हैं :—

पापी लोग पहाड़ दे पत्थर जिन्हां दे चित !
दिल मिलांवदे कदि कदि अख मिलांवदे नित !!

ठीक ही तो है रोज देख सकते हैं परन्तु मिल नहीं सकते। चित पर पत्थर रखना पड़ता है, फिर भी हर क्षेत्र में परिस्थिति अनुकल प्रेम सेतु ही अपनाया जाता है। पहाड़ियों की ऊंचाई तथा नदियों की गहराई को यहां के किशोर किशोरियां गीतों, संजोटियों, गंगी, झूरी, नेंणी तथा लामण आदि से मापते हैं और पार करते हैं। इसी माप दण्ड में कई बार प्रेमी विलख उठते हैं व्यग्रता में भावुक हो कर कहते हैं :—

चिड़ू रा लेणां जौलमा धारा उडरि जांणा !
ध्याड़ी चुगणों धाना रि सेरि वैंड़ी वुटड़ू सौणां !!

इसी प्रकार एक किशोर जोड़ा जो पशु चराते है नदी के इस पार व उस पार जहां नजरें मिल सकती हैं दिल नहीं लामण के माध्यम से प्रेम प्रवाह चलाते हैं, इस आशय को चम्बा के लोक गीत की इस कड़ी में भी दर्शाया गया हैं, जैसे :—

बार घर मेरा पार तेरा हो-ओ
बिच नदिया बगो रि तेरि सों

आइए अब हम आप को सतलुज नदी के साथ-साथ उन स्थानों पर ले चलें जहां एक ओर जिला शिमला का रामपुर व कुमारसैंन क्षेत्र तथा दूसरी ओर जिला कुल्लू के आनी तथा निरमंड वलाक क्षेत्र जहां लामण सुनने में मिलेंगे जो निम्न नायक व नायका के रूप में प्रदर्शित हैं—

पहला मिलन

नायिका : गोरू ग्वाड़्वा धाराटी बेशड़ों नहीं !
झा लागो ला जोगनी पोरु पोरु बिहेरनो चेंई !!

पशु चराने वाले ग्वाले रिढ़ी पर नहीं बैंठना यहाँ जोगनिय की रोशनी पड़ती है इधर-उधर तो देख लेना चाहिये।

नायक : चेंचकी चेलिय: चिध चिड़ केरनी नहीं !
गोरू चारी ग: आपने आग योग न कौसि रो लेंईं !!

चंचल चिड़िया चिड़ चिड़ नहीं करना हम तो अकेले में पशु चराते हैं किसी के अता पता करने की आवश्यकता नहीं है ?

नायिका : वुझि न रिल्वा जुगा रि औखि खौरि !
तेरी रूखि ला जिमड़ँ शुकि लागि हासिय: मौरि !!

रिलु— प्रेमी सम्बोधन

औखि—मुशिकल—कठिन

रूखि--खुश्क

ए: प्रेमी तेरी खुश्क जुवान जो मुश्किल है हम नहीं समझ पाते इस पर हंसी आती है।

नायक : वायु रि जिंदड़ी औखि जानी न खौरि !
मीठि लागा ग: थोडड़ी कौड़वी ओम्वरा मौरि !!

वापू की जिन्दगी होते हमें मुशिकल समझने की आवश्यकता तो नहीं हां मीठी वाणी थोड़े समय अच्छी लगती है कड़वी तो जीवन पर्यन्त।

नायिका : दुखा रे लामणु सुखा रि गांणी गीत: !
सुख नहीं मँडदौ ईजि रे ओदर: मित: !!

दुखियों के लामण तथा सुखियों के गीत गाये जाते हैं परन्तु सुख जो गां के उदर में मिल पाता थोड़ा है। जैसे कुल्लू में कहावत है—सुखा रि मौखी डोज़ी, केलि मेलि जिंदड़ी कौस-कौस व: खोज़ि !

नायक : चौतुरा नाणियें केतर: काटिबा बित: !
काटि मुकि मुगति राम: जेड़ी राजे रि सीत: !!

ए: चतुर नार कइयों ने बिताई और बिता कर ही कटि राम जो राजा थे ईश्वर थे उन की प्यारी सीता ने भी कई दुख झेले।

नायिका : क: होंदौ जाति रौ क: तेरी खौरि कमाई !
औकली रो लागाड़ खांदड़- आग डाई हिकडी लाई !!

पहली मुलाकात में पूछती है, तुम किस जाति के हो क्या काम काज करते हो बुद्धि के तो तुम भण्दार लगते हो जो हमारी छाती में भी आग सुलगा दी।

नायक : क: चाहे बोलनो क: तेरी असली राई।
वात जात न पुछणी महारी होंदी खोरि कमाई ॥

साफ साफ कियों नहीं कहती तेरी असल रामे क्या है हमारी कमाई तो खोटी भी हो सकती है जो ज़ात और पात पूछ कर हल नहीं हो सकती।

नायिका : लामिये बटिय: लामड़े दे झलारा।
औरू दे हाथड़ मेरे आणों नदिये पार: ॥

लम्बे पेड़ की तरह झुलारे दे कर अपने हाथ मुझे दे मैं नदि के पार तुम्हारे निकट आना चाहती हूं, यही राय व्यक्त की।

नायक : क: गौड़े नाणियें नील: सौरगे तार:।
आमा वापु आए पुछिया, दिलड़ू लाणें महार: ॥

नारे यह नीले आकाश के तारे क्या गिनती हो अपने मां बाप को पूछ कर आओ तब हम दिल लगाएँगे हाथ मिलाएँ गे।

नायिका : चाकुव चिउंरि चट कः रिल्वा मारः ।
गा नाइ सौरगे बापु नायः हरिद्वारः ॥

चाकू एक वृक्ष जिस की छड़ी खूब मुड़ती है इस छड़ी की चोट कियूं मारता है मेरी मां जो पहले स्वर्ग वास हुई पश्चात बापू की अस्थी भी हरिद्वार जा कर बहा दी गई है ।

नायक : छोटया सर्पा लामि तेरि क्याड़ी ।
हौड़ी झीड़ी हे बोंहणे पाछु आई भौली घ्याड़ी ॥

अपने मित बोल पर पछता कर कहता है, जैसे छोटा सा सर्प चोट लगने पर सिर (गर्दन) खड़ा करता है ऐसे ही तुम सब कुछ बहा लो अन्त में अच्छे दिन अवश्य आयेगें ।

नायिका चौंरु भौंरु पाणी पियवजों सौरः !
घेरि मिलयें फेरिया आज चालः आपने घौरः !!

अब आज हम चौंरु भौंरु नामक पशुओं को सर (झील) में पानी पिला कर घर जाते हैं जिंदा रहे बार-बार मिलते रहेंगे ।

नायक : आज की मिलड़ीं जैणी पानी रे सौरः !
दिलड़ू न चोड़ने काल मिले नोगड़ी तौरः !!

आज का मिलना जैसे नदी, पानी, झील का मिलना हुआ इस दिल को मत तोड़ना कल फिर नोगली तौर (झील) के पास मिलना ।

इसी प्रकार उपरोक्त बातों के आधार पर ही प्रथम मिलन —समाप्त होता है अगला मिलन निम्न प्रस्तुत है ।

दूसरा मिलन

नायिका : हिज़ शदाषा किलः न रिल्वा आऔ
तेरे बाडे विऊ खिचड़ू सिय आशुव; खाऔ

प्रियतम (रिलू कल तुम्हें बुलाया था विंयू नहीं 'आए' तुम्हारे हिस्से का घी और खिचड़ी रोते-रोते खाई यानी तुम बहुत याद आऐ ।

नायक : हिज न आवौ हिज़ तौ घौरटः नाऔ ।
राच काटि बेशिया शाटु ज़ाडिया डाऔ ॥

कल नहीं आ सका घराट में पीसने को गया सारी रात तुम्हारी याद में काटी दिल जला कर खाक कर दिया।

नायिका : फुल गुलाबे रो एउ नीऐं नोगड़ी तीरः।
कि चोड़े शाट् कि नयिं आपने घौरेः॥

ऐः प्रियतम या तो दिल को तोड़ दो या मुझे गुलाब के फूल पर बैठा कर नोगली पत्न से पार कर के अपने घर ले चलो।

नायक : घौरः न निउंदी आमा बापु रि डौरः
घौर बोसे मौजि जिऊ डाए नोगली तीरः

मैं आमा बापू के डर से तुम्हें घर नहीं ले जा सकता तुम जहां चाहो अपना घर बसा लो परन्तु दिल इसी नोगली पुत्न पर ही रखना यानि मुझ में ही रखना।

नायिका : पापी मेरो दिलाड़ु पापि हौआ मौर्दे ज़ाता
आग डा लाईया छाडी देआ आदड़ी बाता

मर्द की ज़ात तो पापी होती ही है मेरा मन भी तो पापी है जो आग लगा कर आधे रास्ते में ही छोड़ देते हैं।

नायक : रोए न नणियें मेरी बाज़ा हिके नगारः।
तेरी तेंई गः नाणियें चोड़ी आंणू सौरगे तारा॥

नाणी (प्यारी) रो मत तेरे रोने पर मेरी छाती में नगारे से बजते जो सहन नहीं होते तेरे लिये तो मैं आसमान से तारे तोड़ कर ले आऊंगा।

नायिका : देवा गणेशिका का वौरा लः रिलुआ मांगू।
साथ मांगू जुगा लः कुंगू बोला केसरः रांगू॥

कुमकुम केसर से गणेश देवता की मूर्ति रंग कर उस से तुम्हें वरदान में मागू गी इतना ही नहीं तुम्हें युग युग का साथी बन जाने की मांग करूंगी।

नायक : देवा गणेशि लः मेरि बि निऐं दुआई।
साथ लोड़ी दुई रो वुद्धि लोड़ी विद्या आई॥

देवता गणेश को मेरी भी अर्ज ले जाना हमारे साथ हमेशा रहे तथा बुद्धि विद्या भी आ जावे।

नायिका : फूल गुलाबे रो फुल्वा देउरि बाई
म्हारे आऐ पराउणों थिऊ नाऐ खिचड़ी खाई

रस्ते में मन्दिर के साथ वाडली इस के पास गुलाब का फूल है फिर हमारे घर आना और घी खिचड़ी खा कर चले जाना।

नायक : ध्याड़: औडिया छेंई नाई उजल: घेर:।
मींठौ चांड़ें भोजना हमें आए: पांउणें तेरे॥

दिन छुपते जब छाओं ऊंचाई पर जाऐं गी तो हम तुम्हारे महमान आवेंगे तुम मीठारे (स्वादिष्ट) भोजन बना रखना।

अगला मिलन

नायक : उजिये गैंहर: जोगि बरागिये पूजा।
त: गौंड़ू लेटड़ी जुण मेरे मन की बुझा॥

योगी वैरागी ऊंचे शिखर पर ध्यान करते हैं जो योग बल से सब कुछ देखते समझते हैं मैं उस जनानी (स्त्री) को भी मानू जो मेरे मन की धड़कन को समझे।

नायिका : रैंई ये बुटिय: गोदा वानणी राशि।
जुण झूरे मेरे जिवा ल: तेऊ रि थायड़ों गाशी॥

जो मेरे जिऊ से प्रेम करता हो उस की मैं भी हर प्रकार से सिरोधार्य मानूं उस गले में इस प्रकार हार डालूं जैसे रैंई के वृक्ष में रस्सी बांधी हो।

नायक : डुगिय: डिबरी पानि रो भौगरू बौआ।
जिबा जानी न्यारू तो आखि न घौडिय: रौआ॥

बराबर जिस प्रकार झील में झरने का प्रवाह होता है, उसी प्रकार अपनी जबान को तो सम्भाल देता हूं परन्तु आंखें तो घड़ी पल भर भी नहीं रह सकतीं हैं।

नायिका : घारा गाय: देउरी देउरी गाय: कुला।
बाड़: शुक: शाटु हरे तबाकू रो फूल ॥

घार पर देउरी (मन्दिर) उस के ऊपर कुहल हैं परन्तु हमारे दिल ऐसे सूख रहे है जैसे हरे तमाकू के फूल सूखते हैं।

इसी प्रकार लामण को प्रेम सेतु यानि पुल माना गया जो इस दूरी को निकटता माना गया।

गांव व डाक० निरमंड,
जिला कुल्लू,
बरास्ता रामपुर बुशौहर, (हि० प्र०)

"कुल्लू के विवाह गीत और लोकाचार"

लोक संस्कृति —ऊषा

जीवन को सुसंस्कृत बनाने के लिए जो विधान किए जाते हैं उन्हें संस्कार कहा जाता है। हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थों में 16 प्रकार के संस्कारों का उल्लेख है। परन्तु कुल्लू में चार प्रकार के संस्कार ही मनाऐ जाते हैं जो नामकरण, चूड़ाकर्म, उपनयन और विवाह संस्कार है।

इन संस्कारों के दो रुप होते हैं :—

पहले में पुरोहित द्वारा मंत्रोच्चारण तथा कर्मकाण्ड होता है। दूसरा लौकिक रुप है जिस में लोकाचार है। इसे स्त्रियां ही कर लेती हैं। यह लोकाचार ही विशेषत: गीतों के साथ घनिष्ठ रुप से सम्बद्ध रहता है।

विवाह संस्कार सबसे पवित्र संस्कार माना गया है। विवाह दो विषम लिंगी व्यक्तियों का न्यूनाधिक रुप से स्थायी सम्बन्ध है जो जनमत या विधान द्वारा मान्य है। हर समाज में किसी न किसी रुप में यह सम्बन्ध पाया जाता है। हिन्दू परम्परा के अनुसार विवाह एक ऐसा साधन है जिस के द्वारा पितृ ऋण पूर्ति होती है। यह पूर्ति सन्तानोत्पति से की जाती है वैदिक तथा पौराणिक संस्कृति के अनुसार मनुष्य के तीन ऋण हैं, पितृ ऋण जिसमें से एक हैं।

हिन्दुओं के धर्मग्रन्थों के अनुसार हिन्दुओं के विवाह का आदर्श धार्मिक तथा समाजिक है। हिन्दू विवाह का पहला उद्देश्य स्त्रीधारा की पुरुषधारा में मिला कर उसे मुक्ति की अधिकारिणी बनाना तथा दोनों की अनर्गल अनियमित पशु प्रवृतियों को नियमित कर दोनों की शारीरिक मानसिक बौद्धिक, इहलौकिक, पारलौकिक तथा आध्यात्मिक उन्नति करना और दोनों के मधुर समन्वय से दोनों की पूर्णता सिद्ध करना है। विवाह का दूसरा उद्देश्य उत्तम धार्मिक सन्तान की उत्पत्ति द्वारा पितृ ऋण से उऋण होना तथा प्रजातन्तु की रक्षा करना है। विवाह का तीसरा व अन्तिम उद्देश्य स्त्री एवं पुरुष के मधुर पवित्र समन्वय तथा सांमजस्य द्वारा पारिवारिक सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन की सुव्यवस्था एवं सुख स्वास्थय तथा शान्ति की रक्षा करता है।

भारतीय ग्रन्थों में विवाह के आठ प्रकार बताऐ गए हैं :—

1. ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजायत्यस्तयासुरः
   गांधर्वो राक्षसश्चैव : पेंशसशाचष्टमें ऽबम : ॥

1. ब्राह्म 2. देव 3. आर्य, 4. प्राजापत्य 4. आसुर 6. गांधर्व 7. राक्षस और पैशाच ।

इन आठों प्रकार के विवाहों को अलग-अलग ढंग से सम्पन्न किया जाता है। किसी में कन्या सजा संवार कर वर को समर्पित की जाती है तो कहीं कन्या का मूल्य होता हैं।

1. ब्राह्म विवाह :

कन्या को वस्त्र, अलंकार आदि से सजा कर विद्वान शीलवान वर को बुला कर कन्यादान करते हैं।

2. दैव विवाह :

कन्या को सजा सवार कर उस यज्ञकर्ता ऋत्विक वर को दान किया जाता है जिस ने किसी यज्ञ क्रिया में किसी पुरोहित के कार्य को उचित ढंग से पूरा किया हो।

3. आर्य विवाह :

ऋषियों से सम्बन्धित विवाह आर्य-विवाह कहलता है।

4. प्राजापत्य विवाह .

तुम दोनों मिल कर गृहस्थ धर्म का आचरण करना, यह कह कर विधिवत वर की पूजा कर जिस अनुष्ठान में कन्यादान किया जाता है वह प्राजापत्य विवाह कहलाता है।

5.. आसुर विवाह :

कन्या का कुछ मूल्य देय होता है जो विवाह का इच्छुक व्यक्ति अपनी इच्छा से कन्या के कटुम्बियों को या कन्या को धन के रुप में दे कर विवाह करता है। ऐसा विवाह आसुर विवाह कहलाता है।

6. **गांधर्व विवाह :**

कन्या व वर के परस्पर प्रेम के फलस्वरुप जो विवाह होता है वह गांधर्व विवाह कहलाता है ।

7. **राक्षस विवाह :**

राक्षस विवाह में विजयी पक्ष विजित पक्ष के लोगों को मारकाट कर उन का घर तोड़कर विलाप करती हुई कन्या को उसके घर से उठा लाता है । यह विवाह प्रथा उस काल का संकेत करती है जब स्त्रियां युद्ध का पारितोषिक समझी जाती थी ।

8. **पैशाच विवाह :**

मद्यपान से विहूल, निद्रित अथवा किसी अन्य प्रकार से उन्मत्त स्त्री के साथ एकान्त में सम्बन्ध स्थापित कर के विवाह करना पैशाच विवाह कहलाता है । यह तो थे हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थों के विवाह व उन के प्रकार । अब कुल्लू हिमाचल प्रदेश के विवाह के प्रकार देखते है :—

कुल्लू में चार प्रकार के विवाहों का ही रिवाज है । ब्राह्म 2. गांधर्व 3. आसुर तथा राक्षस परन्तु कभी कभी पैशाच विवाह के उदाहरण भी मिलते हैं । परन्तु इस प्रथा को समाज में निन्दनीय ही समझा जाता है । कुल्लू की जनभाषा में इन सब प्रकार के विवाहों के अपने नाम हैं जो इस प्रकार हैं :—

ब्याह (गौरां), सीया (बदाणी), गाड़र, परैणा, रुती मनाई मदरनुइआं रंडोल, सरीत और हार ये सब प्रकार के विवाह अलग-अलग जातियों में अलग-अलग ढंग से होते हैं :—

1. ब्याह (गौरां), सीआ ब्राह्मणों तथा सम्मानित खशों और राजा राणाओं का होता है ।
2. बदाणी, कनैतों तथा खशों के कई वर्गो में प्रचालित हैं ।
3. अनुसूचित जातियों में गांडर विवाह का रिवाज है ।
4. हार विवाह में वधु को मेले इत्यादि से उठा कर विवाह किया जाता है ।
5. रडौल विवाह :—विधवा विवाह का ही नाम है ।

कुल्लू में भी बाकी भारत की तरह ही ज्यादातर विवाह अनुष्ठान की दृष्टि से दो तरह के होते हैं :—गौरां विवाह, सीया विवाह, गौरां विवाह में शैव सम्प्रदाय की अधिक छाप है तथा सीया विवाह में वैष्णव सम्प्रदाय की । कुल्लू प्रदेश में विवाह के अवसर पर गाये जाने वाले गीतों में इन दोनों

तरह (गौरां व सीया विवाह) के विवाहों की झलक मिलती है। कुल्लू में विवाह के अवसर पर वहां जो लोकगीत गाये जाते हैं वह वहां प्रचलित विवाहों का चित्र प्रस्तुत करते हैं। वैसे तो अलग-अलग तरह के विवाह में, अलग अलग गांव में, अलग अलग गीत गाये जाते हैं परन्तु उन सब का मिला-जुला रुप यहां प्रस्तुत किया जा रहा है। यहां एक बात मैं स्पष्ट कर देना चाहूंगी, वह है कि कुल्लू में विवाह से पूर्व उपदैशिक प्रथाएं हैं जिन्हें पूरा करना आवश्यक होता है अतः विवाह विवेचन से पूर्व मैं उन प्रथाओं का भी यथा स्थान निर्देश करती चलूंगी।

गुड देना :

विवाह संस्कार का बीजोरोपण गुड़ देने से माना जाता है। पहले वर पक्ष की ओर से शुभ मुहूर्त देख कर वधु पक्ष को गुड़ को लाल लुहान (लाल कपड़े) में बांध कर तथा उसमें एक रुपया डाल कर भेजा जाता है। अगर वधू पक्ष इस गुड़ को स्वीकार कर ले तो रिश्ता पक्का समझा जाता है फिर वधू पक्ष विवाह के नजदीक इस गुड़ में और गुड़ मिलाकर गांव में तथा नाते रिश्तेदारों में बांट हैं, तब लोगों को सम्बन्ध की सूचना होती है।

दिन देखना :

इस के बाद विधिपूर्वक विवाह का लग्न मुहूर्त देखा जाता है जिसे स्थानीय भाषा में "ध्याड़ा" देखना कहा जाता है इस अवसर पर गाया जाने वाला एक गीत है :—

मशीरैं नै रांची गो शाकरा
मशीरैं पड़ा पायो——
पोशा ने रांची शांकरा
पोशैं हआ शैंई लाड़ो——
माघैं ने रांची शांकरा
माघैं करिए स्नाना——
फागुणैं ने रांची शांकरा
फागुणैं होइये होलिका——
चैत्रे ने रांची शांकरा
चैत्र फूलिया वणासो
बशैंह ने रांची शांकरा
बशैंह फ़ूलिया जुई——

जेठै नैं रांची शांकरा

जेठै फूलिया कुई——

शाड़ै न रांची शांकरा

शाड़ैतपी लाड़ो होये——

शौणे ने रांची शांकरा

शौणे वर्षा दैं मेऊ——

भद्रा नैं रांची शांकरा

भद्रा भड़ी अमावसा होये——

शौजे पलिया पकाहा——

काति करिये विवाह——

इस सारे गीत में 'दिन निकलने' का ही भाव है अर्थात, हे शंकरा हमारा विवाह कार्तिक मास में ही हो तो ठीक है बाकी सब महीनों के कोई न कोई बहाने हैं जैसे— मार्गशीर्ष में सर्दी पड़ती है, पौष में हवा ठण्डी होती है, माघ मास में शुभ स्नान करते हैं, फाल्गुण में होली खेलते हैं, चैत्र में वणांस, बैसाख में जुई, जेठ में कुई के फूल खिलते हैं इसलिए इन महीनों में विवाह न करें। आषाढ़ माह में दुल्हा तपी होता है। सावन में वर्षा बहुत होती है। भादों में काली रात्रि होती है, असौज में कपास फूलती है। अत: अब केवल कार्तिक मास बाकी है उसी में विवाह रचना ठीक रहेगा।

रतजगा (जगराता या जौगारात) :

दिन देखने पर ही सगे सम्बन्धियों, मामा, विवाहित-बहनों को निमंत्रण भेजा जाता है, । विवाह से पहली रात को जौगारात कहते हैं और इस रात को स्त्रियां गीत गाती हैं दिन को द्वार पर बेले खेंची जाती हैं घर को सजाया जाता है। इस दिन व रात को वर तथा वधु का व्रत होता है बाकी सब के लिए बढ़िया पकवान (हल्वा, कचौड़ी इत्यादी) बनते हैं। जौगारात तक सब नाते रिश्तेदार आ जाते हैं। कुल्लू प्रदेश में शादी के शुभ अवसर पर मामा का खास स्वागत होता हैं। मामा की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है तथा मामा भी बाजे-गाजे के साथ कई तरह की भेंटे लेकर आता है। बुआ तथा बहन के आने पर वर अथवा वधु की माता उनकी आरती उतारती है। स्वागत में मंगल गीत भी गाये जाते हैं एक उदाहरण इस प्रकार है :—

कसरे घर नाचणा बाजणा.

कसा घरे सोड़ा बधाए।

माई रे घेरे नाचणा बाजणा, बापू रे घेरे सोड़ा बजधाए ।
कुनिये बदया कुनिये शादिआ, कस केरे निउदाणें आए ।
बाबुए बेदेया, आमा शादिया आ ईए निउन्दे आए ।

इस लोक गीत में पहले प्रश्न है, कि किस के घर नाचना बजाना हो रहा है ? मंगलाचार हो रहा है, तो उत्तर में कहा जाता है कि मेरे माई के घर नाचना बजाना हो रहा है और पिता के घर मंगलाचार हो रहा है । इसी तरह पूछा है कि किसने तुम्हें बुलाया है ? उत्तर है मेरे माता-पिता ने बुलावा भेजा है तथा भाई ने निमंत्रण दिया है ।

शयान स्थापना :

शयान स्थापना का कार्य शादी का सबसे महत्वपूर्ण पहला कार्य है फिर पुरोहित शयान के पास आटा, चावल तथा रंगों का चक्र बनाता है । जब 'चक्र चौका' बनकर तैयार हो जाता है तो पुरोहित मंत्रो च्चारण द्वारा विधिपुर्वक शयान की स्थापना करता है और दीपक जलाता हैं । स्त्रियां इस अवसर पर गीत गाती हैं :—

बौड़े बौड़े दीआ सोगरो रात्रो
तोएे बिना घोड़िए न होए ।
तूता कौरे म्हारड़ें काजा ।
कीजू केरौ दीएड़ा कीजू केरो बोड़ादी बाती ?
कीजू केरी लगांदी धारौ ?
सूने केरी दी आड़ेआ,
पारा केरी बोड़ादी बातौ
घीऊ केरी लागांदी धारौ ।
कीजू केरी दिआड़ी ? किजू केरी बोड़ादी बाती ?
कीजू केरी लागां दी धारो ?
रुपैं केरो दिआड़ेआ, रेशमा केरी बोड़ादी बाती,
दूधा केरी लागांदी धारो ।
कीजू केरो दिआड़ो ? कीजू केरी बोड़ादी बाती ?
कीजू केरी लांगां दी धारो ?
मारे केरो दिआड़ो, बाचा केरो बोड़ादी बाती,
तेलू केरी लागांदी धारो ।

अर्थात् दीपक तुम जलते रहना: क्योंकि तुम्हारे बिना कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं होगा, हमारा काम कर देना। किस वस्तु का दीपक कैसी बत्ती और किससे वह जलता है ? सोने चाँदी व मिट्टी का दीपक रेशम की व सूत की बत्ती और घी दूध तथा तेल से जलता है।

फिर गीत गाने वाली युवतियां पुरोहित को तथा फिर पुरोहित उन्हें सम्बोधित करता है कि नगर में बसने वाले पुरोहित, तु हमारा काम कर तेरे बिना एक घड़ी भी काम नहीं चलता, तो पुरोहित कहता है गाने वाली स्त्रियो तुम मंगल गान गाओ। नगर की कुमारियो तुम कलश ढलाओं और बाजा बजाने वाले ढोलियों तुम अपने वाद्ययंत्रों को बजाओं :—

इसे गीत की लय में देखिये तो जरा :—

1. नौगरे बोसोते पारोहिता, तूए कौरे म्हाराड़ो काजौ,
   तौए बिना घोड़िए न होए,
   नौगरे बोसन्ती आईयों तोमा आजो मोंगड़ गाओ
   तोमा बिना घोड़िए न होए।
   नौगरे बोसन्ती कोंआरियों तोमे आजो कलशो ढालाइओ,
   तोमा बिना घोड़िए, न होए।
   नौगरे बसोते ढोलियों, तोमें आजोशो द बजाओ,
   तोमा बिना घोड़िए न होए"

इसके बाद विनायक पूजा होती है इस अवसर पर यह गीत गाया जाता है :

पहले वेशो बानायिक देवा, सोमी देउआ केरो राउआ।
वर पुत्रा बोले, सुणो री माता, मेरे तोरथा जाणों।
गौरा पूछा रे स्वामी सदाशिव पुत्रे तीरथा जाणो।
तू तो तीरथा न जाए रे पुत्रा, रहे होरी के विलासे
हरि कमलोस न रहुं रे माता, रहूं सीधा के साथे।
गौड़े शोभा रे रुंड काला, सिरे पुष्प माला।
पवन सुता विनायिका देउआ, सोमी देउआ केरो राउआ।
पांजे स्थड़ी हांमें परसे आए, परसे पांजे स्थाना।
बड़ विनायक स्थापी देउआ, सोमी देऊआ केरोराउआ।

सभी देवताओं से बड़े देवता विनाय की सर्वप्रथम स्थापना होगी, विनायक माता से आज्ञा चाहते हैं मैं तीर्थ स्थान कर आता हूं। माता गौरी ने शिवजी से कहा, शिव भोले ने उत्तर दिया बेटा तीर्थ न जाओ वहां तुम बुरी संगत मैं फंस जाओगे तो विनायक कहते हैं नहीं मां। मैं साधु सन्तों के साथ ही रहूंगा। विनायक तीर्थ यात्रा कर आया, वह पांचों स्थलों और पांचों स्थानों को परस आया।

शयान की स्थापना भी हो गई और पुरोहित ने चौंका भी बना लिया फिर इस शयान के पास विवाह समाप्त होने तक, सुबह शाम दोनों समय गीत गाए जाते हैं। सुबह जो गीत गाये जाते हैं उसे' भ्यादड़ा कहते है। एक उदाहरण प्रस्तुत है :—

कृष्ण सुदामा बालो साथी पढ़ो एक चितयारी।
कांचन के तो महल बड़ाए, जड़े हीरे लाल।
सब सुत तुम भजो नन्दलाल, तुम भजो नंदलाल।
आंउदे को पल लाउदे वोर्षो डौरे गोपी गुआल।
बाउई किरपर घरी कैगिरीधर तुम भजौ नंदलाल।
सब सुत तुम भजो नंदलाल तुम भजो नंदलाल।
विक्षणा के राज दीआ, अटल ध्रुर्व को राज
प्रहलाद को प्रतीज्ञा राखी, तुम भजो नंदलाल।"

इस गीत में श्री कृष्ण की महिमा का गान किया गया है उस चितचोर, गवाले, नंदलाल की स्तुति की गई है।

अब एक और पक्ष की ओर चलते हैं। विवाह से पूर्व वर व वधू को उबटन वोटणा लगाया जाता है फिर नहलाया जाता है। और तब तेल डाला जाता है, कपड़े पहनाए जाते हैं। इन सब अवसरों पर औरतें मंगलाचार करती हुई गाती हैं। हर अवसर पर अलग-अलग लोकगीत गाया जाता है। सब से पहले उबटन लगाते हुऐ यह गीत गाया जाता है :—

बोटणा 'उबटन लगाने का गीत' :

बोटणा सजोया—
दादू दादीयँ फनेउई आओ।
बोटणा
हिन्हीये फनँउई आओ ?
बोटणा
बाबुये माईय सजोइया
बोटणा
किन्हीयँ फनँउई आओ ?
बोटणा
भाभीयँ वीरणा सजोइया
बोटणा——

अर्थात् बोटणा किसने लगाया है बोटणा दादी व दादे ने लगाया है फिर पूछते हैं बोटणा किस ने लगाया है तो मां बाप ने ताई ताया, चाची चाचा, भाई भाभी सब के नाम गिनाऐ जाते हैं। इस प्रकार बोटणा लगाया जाता है और उसके बाद (उबटन लगा कर) फिर नहलाया जाता है तो :—

नहलाने के गीत :—

वधू पक्ष में गाया जाने वाला यह गीत :—

उठे देउआ ईशरा रैणा मियाणी,
भौले धीरे वौरों लोड़ी,
सुहागो लोड़ी पाणी।

हे ईश्वर देवता, उठ, रात खुल रही है। भले घर का वर चाहिए और सुहाग का पानी।

एक और गीत जो वर-वधू स्नान के अवसर पर गाया जाता है :—

डूलो डूलो गौरियो पानी तपाउयो———
विष्णु नारायणा करियो स्नाना———
बाड़ो नरायणा करिये स्नाना———
आगे मेरे दादुआ गंगा तीरो पानी———

बाहो नरायण करिये स्नाना ———
बाबू बोला माईये— – —
आणी गंगा तीरो पानी ———
बाड़ो नरायण करिये स्नाना— ——
डूलो डूलो गौरियो – ——
पाणी तपाउयो——— —

अर्थात् वधू और वर के स्नान करने के लिए पानी गर्म कर दिया है अतः स्नान करने के लिए तैयार हो जाओ। वर रुप नारायण स्नान कर रहे हैं। हे पितामह। गंगा का पानी स्नान के लिए लाओ। बालक स्नान कर रहे हैं। पिता जी को माता जी को कहते हैं कि गंगा का पानी ले आईये बालक स्नान कर रहे हैं। गौरी, पानी स्नान करने के लिए गर्म कर लिया है।

अब नहाने के बाद द्वार पूजा का एक गीत :—

ओड़ो मोड़ो भूमड़ो बोड़ो
ऐसी लाड़ो पूजिया।
भाई आंबिके बराड़ै
भिछिया चौउरो ढुलाऊदीओ
पहले कलशा भराउदीओ
ओड़ो मोड़ो भूमड़ौ बौड़ो
ऐंऊ लाड़ै पूजिओ।

जब लाड़ा या लाड़ी नहाने के बाद द्वार के पास जाते हैं तो बालक उन पर चावल फेंक कर गीत गाते है इसे ही अक्षत पूजा कहा जाता है इसके बाद वे स्वंय द्वार की पूजा करते हुए यह गीत गाते हैं :—

देउड़ी देउड़ी पूजेआ
गंगा के पांणी में न्हाएआ
धूते जै दी ओड़े बड़ाएरा
कूंगूए पा चैउड़े मां पूजेआ,
बेला की पात्री में पूजेआ।
घोणिया री धूपे में पूजेआ,

फिर शयान की पूजा करते हुए : –

"आओ लड़िया, (लाड़िए), गणपात्रो पूजेआ,
आओ घृते जे दियाड़ो बड़ाएआ।

लाड़ी अथवा लाड़े आओगणपति की पूजा करो

चलड़ेउगा :

नहाने के बाद बच्चों की पूजा करके वर अथवा वधू को जो वस्त्र पहनाए जाते हैं उन्हें चलड़ेउगा कहा जाता है तथा इसे भी गीत में ढाल दिया जाता है : —

कीजू केरी सीउणा, कीजू केरो धागो।
सूने केरी सीउणा, रेशमो केरो धागो।
रूपये सीउणा पारौ धागो।
लोहे सीउणा सूत्रो धागो।
चौएला दसोधा न केरी ए माए——
राम चँएधा दसोधे ने केरी ए माए

तेल चढ़ाना :

कपड़े पहन लिए फिर वर अथवा वधू को सभी रिश्तेदार, माता-पिता, तेल चढ़ाते हैं। वस्त्रों की ही तरह तेल की भी पुरोहित पूजा करता है फिर उस में हरी दुब्र डाली जाती है इसी दुब्र से तेल चढ़ाया जाता है जब वर या वधू के सिर में तेल डाला जाता है तो दादी मां, ताई-चाची बुआ, मासी, सभी बारी-बारी से वर अथवा वधू के सिर में तेल डालती हैं जिस पर यह गीत भी गाया जाता है। :—

मोराए मोराए मोर गाइए, कुणी सुहागणी तेलो पाइए ?
दादी सुहागणी तेलो पाइए, तेल का लग्न गड़ोए आ।
मोराए मोराए मोर गाइए कुणी सुहागणी तेल पाइए ?
माता सुहागणी तेलों पाइए तेल का लग्न गड़ोए आ।

इस प्रकार ताई, चाची, मामी, मासी, तथा बहनें आदि सब के नाम लेकर यह गीत गाया जाता है।

टीका :

इस के बाद वर को मामा-नाना के घर से आए उपहार भेंट किये जाते हैं इसे ही टीका कहते हैं।

अब एक और गीत जिस में बहन भाई की शादी में सम्मलित होने के लिए मथुरा से आई है तथा अत्यन्त प्रसन्न है। भाई को पीला तिलक लगाती है। देखिए इसे भी गाया जा रहा है :—

गोयला माथुरैं भिक्षुणी ए
ते तो मेरी बैंनती आई रे
सो मूंजो पियाणा लाई रे।
पियाणा लाए बैंनणी मेरी
सात धोर्मा भाईआ
चौऊ ताबू भीतरी बैंनणी मेरी,
सात धोर्मा भाईआ।

● ● ●

आ रे कान्हा, ऊंची पारौउड़ी सुवर्ण छात्रो फिरे।
माउड़े रहणा खड्ग, सुवर्ण छोत्रो फिरे

यह गीत उस समय गाया जाता है जब लाड़ा तैयार होकर वधू गृह की ओर जाने के लिए अपने घर से बाहर निकल कर द्वार पर पहुंचता है।

अरगना :

द्वार पर उतारी जाने वाली आरती को ही अरगना कहते हैं।

आदो सुमराऊ गउरीए, नंदी ऐ तोघोरे गणपतो भेशे।
ऐतो घोरे गणपतो बेशि कोरे, मोतिए चउकी फराए।
मोतिए चउको फराई कोरे, क्वारिए कलशो ढुलाए कोरे।
क्वारिए कलशो ढुलाए कोरे, ब्राहमण वेदो बड़ाए।
ब्राह्मण वेदो बड़ाए कोरे आइए मांगड़ो गाए।
आइए मांगड़े गाए कोरे, प्रोउड़ी तूरण गाए।

प्रोउड़ी तूरण लाए कोरे, पाजे शब्दो बजाए ।
पांजे शब्दो बजाए कोरे, श्रीखंड आंगणे लिपाए ।
श्री खण्डे आंगणे लिपाए कोरे ओ भाई चितरेविचत्रे ।
ब्रह्म विष्णु मेहेश्वरा देवा, श्री खण्डे आंगणों लिपाऐ ।

यह गीत भगवान की स्तुति में ही है। जब लाड़ा (वर) द्वार से बाहर निकलता है तो माता उसकी आरती उतारती है द्वार की पूजा करती है। फिर सभी देवी-देवताओं को प्रणाम करती है।

अरगने का गीत वधू के द्वार पर विदाई के समय तथा पुनरागमन के समय वर के द्वार पर (वर-वधु के स्वागत में) गाया जाता है। अरगने के साथ आरती होती है और यह गीत गाया जाता है :—

लग्न सांदूरोजीं, लोगना गाणाएं।

वर की माता, वर के पालकी में बैठने पर उसके मुंह में गुड़ डालती है और गाती है :—

बोड़ो बोड़रो तू लाड़ो होए, भाई अपनी पाए पोड़े ।
बेड़ो बोड़ेरो लू लाड़ो होए, माई अंबके पाए पोड़े ।

बारात के चलने पर यह लोकगीत गाया जाता है कि राम और लक्ष्मण हाथी और घोड़े की सवारी कर सीता को व्याहने चले हैं माता कौशल्या तथा सूनी अयोध्या नगरी पीछे रह गई है।

रघुपति नारायण हास्ती चढ़िया, सीआ बिहाउण चलिया ।
आपू ते चाला सिआ बिहाउणे, पीछे रही जेगधिया रानी
शूने जो रहे रामा रंग तेरे महिला शूनी रही जोधिया सारी ।
आपू ते चाले रामा हाथी री शुआरी, भाई लच्छमण घोड़ा री शुआरी ।

वधू का पिता सो रहा है इतने में बारात द्वार पर पहुच जाती है तो वधू सोये हुये पिता को उठाती है कि तुम्हारा जुआई द्वार पर आया है तो पिता उतर देता है अब इतने कम समय में बेटी, मैं उसका स्वागत कैसे करूंगा :—

सूतओ बाबूआ विउदड़ाह होए,
जुआई तेरो बोड़ो बड़ेरी।
खीड़ी चौढ़िए मैं कैसी परौउछा चढ़ाऊ नेरी बेटीए।
बाबू तेरो करिये संता आगे सोमना।
सिरे नावी नावी आएगा सोमना।

द्वार पर बाप अपने जुंआई का स्वागत करता है :—

पाएं केरी पदिमा गौडे जनेऊ
सिरे केरी पागुड़ी लापाई।
सिरे केरी पागुड़ो लापाई।

इस गीत में सास व वर का वार्तालाप है। जो भगवान शिवजी को आधार बनाकर उनको साधुवेश में वर रुप आने पर गाया जाता है:—

सास : पारा ओरु आओ——
ताता। राऊड़े जनेत——
ऐऊ भस्म पोकी लै बेटी नै देऊ———

वर : डैणे डनेलड़ी मुंवी नै विआयु———
करे करे———ईश्वरा आपणी रुप———
सिरे लाओ सरगै———
पैर लाओ पैईये ताड़ै———
करे करे———ईश्वरा आपणो रुप———

सास : तुलै देऊ अरगा———
तु लै बशैदरो धूप
तु ने बोली डैण———
मु नै बोलु राऊड़ा———
करे करे ईश्वरा आपणो रूप।
करै करै ईश्वरा आपणो रूप———

मुनें बोवु राऊड़ा
करे करे ईश्वरा आपणो रूप।
नै बोलु ऐबे भस्मा पोकी
तू नै बोली डैणा डनेल
करे करे ईश्वरा आपणो रुप।

सास ने जब थोड़ी दूरी पर बराती आते हुए देखे तो उसे वर राख लगा हुआ जो दिखा तो कहती है कि मैं इसे अपनी कन्या नहीं दूंगी। इस पर जुआई सास को डंकण का नाम देता हुआ कहता है कि मैं भी इस की बेटी से शादी नहीं करुंगा। तब सास वर से अनुरोध करती है कि अपना वास्तविक रुप दिखाओ मैं तुम्हारी अर्चना करुंगी और न ही मुझे डंकण कहना। मैं भी तुम्हें कभी साधु नहीं कहूंगी तथा न ही मैं तुम्हें राख लगाने वाला जोगी कहूंगी। हे ईश्वर अपना असली रुप दिखा दो।

पहले तो शिवजी को आधार बनाकर उनके साधुवेश में वर रूप आने पर वर्णन था अब वर के रुप में शिव दर्शन का एक गीत प्रस्तुत है :—

कहो पतियो। सुणो सखियो
दुल्है देखदै जाणो———
दुल्हो जै देखदै चालो रे सखियो
अन्ता किन्हीयै नै पाईया———
सज्जना सुहेवली सब मग्ना———
दुल्हा दिगम्बरा आओ—-
सिरे जटा धारी
जटाणें धारोगे सिसा चमकै
मुक्टे गंगा बहाऊया
त्रंय शौ तीसै कुई देवा जुलै आपै
शम्भु ज्योति स्वरुप धारिया।
नीमा जै धर्मा कोछ कोई नै जांणदै
स्त्रवण मुद्रा जलाया
फेरा दी नाद बजाईयो——
इन्द्रा और ढलाओं रे शम्भू
नारी मांगलू गाईया— —
कहो पतियो। सुणो सखियों
दुल्है देखदै जाणो———

दुल्हो जै देखदै चालो रे——
अन्ता किन्हीयै मैं पाईया——
सज्जना सुहेब्ली सब मन्ना——
दुल्हा दिगम्बरा आओ——
बैलै वाहने आओ
सिरै जटा धारी
जटा जै धारणै सिसा चमको
मुकैटै गंगा बहाऊया——
त्रय शौ तीसै कुई देवा जुलैआयै
शम्भु ज्योति स्वरुप धारिया——
नीमा जै धर्मा कीछ कोई नं जाणदै
स्त्रवण मुद्रा जलाया———

जब बारात आ गई तो सब सखी सहेलियां वर देखने गई तो देखती हैं कि वर बिना वस्त्र, बैल सवारी, सिर पर जटाएँ है तथा सिर में गंगा बह रही है शीश चमक रहा है, बारात में सभी देवता आए हैं। इन्द्र पंखा कर रहे हैं, नारी मंगल गीत गा रही हैं।

यह तो थे गोरां के विवाह के दो गीत। अब सीया विवाह के दो गीत जिन में भगवान राम विवाह वर्णन है। तथा जिन में भगवान राम के गुणों का गुणगान तो है ही साथ ही साथ सीता विवाह का वर्णन भी है—

अधपूरि नगरी आये दशरथ राजै
रामै विवाहउये सीया कुंआरी
कृष्णै विवाहऊई रुकमणी
अत्री ऋषि विवाहऊई अनुसूया
चौड़ी आओ घोड़यै राम कुंआरो
इन्द्रै रांचीये दृष्टा प्रमाणा
ब्रह्मणा वेदो पढ़ायौ
होर जै नारी मांगुड़ू गायै
शब्द ताल बजायै
हास्सी हास्सी बोला बशौक्या माई
नौ लाखा दीआ बड़ाऊयै——

नन्द लाल दशरथँ पांवँ पड़े
हाथलु जोड़ी हुअँ खेड़े
अघमूरि नगरी आयँ दशरथ राजँ
रोमे विवाहऊयँ सीया कुंआरी
इन्द्रँ रांचीये दृष्टा प्रमाणा
ब्राह्मणा वेदी पढ़ाओ——
होर जँ नारी मांगडू गायँ———

दशरथ राजे की नगरी अयोध्या है रामचन्द्र ने सीता से विवाह किया, कृष्ण ने रुकमणी से अत्रि ऋषि ने अनुसूया से विवाह किया। फिर वर्णन आता है राम विवाह का राम जी घोड़े पर विवाह करने आ रहे हैं इन्द्र ने दिन निकाला तथा ब्राह्मणों ने वेद मन्त्र पढ़ें, नारियों ने मंगल गीत गाए। मां कौशलया हंसती हुई कहती है कि नौ लाख दीपक जला दिये, राम जी ने राजा दशरथ के चरण स्पर्श किये व दोनों हाथ जोड़कर खड़े हो गए।

दूसरा गीत राम विवाह का है जिस में राम जी से कहते हैं सुनो, किस बेटी ने चौका दिया है किसने धनुष सम्भाला है, यानि कि इस गीत में सीता स्वयम्वर का पूरा वर्णन है। और फिर पुरुषोत्तम राम ने सीता से विवाह कर लिया है :—

एको विनतीया, सुणो रे सिरी रामँ
एको विनतो हमारी, कुणी बेटीयँ चौऊकी दीनो
कुणो धनुषा सम्माड़ो, आपी बाबुआ चौको दीनो
आयी धनुषा सम्मालों, अँया कमिया देऊ——
तेऊ लँ जुण मेरा धनुषा सम्मालँ आयी गेयँ विश्वमित्र मुनि——
रामचन्द्र रोजो सिया विहादूबँ आओ, कममी लियँ करतार
जमी कियँ मां वायँ, समुन्द्रा लांगीया सभी दानु आओ,
नगरी नगरी लोग, विवाहों स्वामी सती सिया।
सिरे रामँ एको विनतीया कुणी बेरीयँ चौऊकी दीनो
कुणी धनुष सम्माडो———।

बारात तो वधू गृह में प्रवेश कर गई हैं तथा बारात का स्वागत भी हो गया है। अब कुल पुरोहित कन्या को कुछ आदेश दे रहा है :—

बाहरी ता निकड़े ——बाडी थीपे कमिया——
बाहरी आओ —— सुन्दरा स्वामीया——
कन्या बाहर तो निकलो, बाहर तुम्हारे स्वामी आए हैं।
वधू रुप में कन्या का उत्तर मैं किस प्रकार बाहर आऊं, हे कुल पुरोहित ——
मैं किहा निकडू कुलजा पुरोहिता,
मैं होंदी दादुये प्यारी——बाहरी
मैं किन्हा —— —, मैं होदी बाबुये प्यारी
बाहरी ता निकड़े———, मैं होंदी भाभी वीरण्डे प्यारी
मैं पितामह की प्रिय हूं। पिता की, माई
की, भाभी की, प्यारी हूं मैं बाहर कैसे निकलूं।

लग्न-फेरे :

अब पुरोहित वर वधू के लग्न फेरे करवाता है, जो विवाह का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। जिसे है। जिसे छडियर भी कहते हैं देखिये एक छड़ियर गीत :—

छापो पोत्रे पोत्रे दादुआ, दादीए नौगरी,
    बहारी भरी आंणो चाउड़ो।
किआं कौरे किया कौरे लड़िया, लाड़ीए,
    नौमरी म्हारी भरी आँणो थोउड़ो।

जव वर वधु फेरे लगाते हैं तो यह गीत गाया जाता है :

लाउई दीनी पहल की, नारी मांगड़ू गाइया,
गोपी गोकुल क्रान्ह बाड़ो कृष्ण विहाउणै आईया
लाउई दूजी नारी मांगडु गाईया
गोपी गोकुल कान्ह बाड़ो
लाउई दीनी पांचवी नारी मांगडु गाईया
गोपी गोकुल कान्ह बाड़ो
लाउई दीनी सातवी नारी मांगड़ु गाईया,
गोपी गोकुल कान्ह वाड़ो कृष्ण विहाउणे आया।

हर फेरे में यह बात दुहराई गई है कि गोपियों के कन्त कृष्ण विवाह करने आये हैं। सातों फैरों में यही बात कही गई है।

फिर देखिऐ पार्वती जी की शिव अर्चना का एक गीत में :—

नदिये किनारे
बाड़ुआ लिंग बणाउओ ——
शिव शंकर उपजाउओ
आगा जै आगा गौउरी बेटी
पाछा हांडा शिव शांकरा
हाथा जोड़ी अरजा शांकरा
तुमैं स्वामी आगड़ू चाले ———

नदी किनारे नाक के अलंकार का पार्वती ने शिवलिंग बनाया और शंकर भगवान का रुप प्रकट किया । गौरां आगे चल रही है. पीछे शिव भोले । आप आगे आगे चलो आप मेरे स्वामी हैं, गोरां कहती हैं ।

सिर गुंदाई :

लग्न फेरो के बाद वधु को ससुराल भेजने के लिए तैयार किया जाता है तो सिर गुदा जाता है और ससुराल से आए आभुषण इत्यादि पहनाऐ जाते हैं । इस अवसर पर गीत गाया जाता है जिस में वधू सिर गुंदाई के समय अपने प्रिया से पुछती है तू मेरे लिए अमुक अमुक आभुषण क्यों नही लाया ? इस पर पति देव उत्तर देते हैं कि मेरा विचार था कि तुम्हारे पिता, दादा, भाई, चाचा, ताया कर्म-धर्म करायेगें तो इस लिऐ मैं यह आभूषण नहीं लाया । इसे देखिए गीत की लय में :—

'ढीले गडौ लाड़ूआ बेला समवे लेका
माई जोगी प्रिय तैं विछ्या न अंगिया ।
में जाणे तेरो दादूए दया सी,
धर्म करावा सी, तैं न मैं आणी आं ।

कन्यादान :

"बाहर जो निकले सकर्मा रे बापुआ हो रही धर्म री बेला कर्मा जै मेरे बापुआ, धर्मा जै तेरे, हो रही धर्मा री बेला ।" वधू पिता से कहती है मां से कहती है कि आप बाहर आकर सत्कर्म कीजिए । यह धर्म की बेला है । आप अपना सुकर्म करें, आप का धर्म होगा । फिर वधू को चिन्ता हो रही है कि आज तक तो मां बाप का आश्रय था, आज उन्होंने छोड़ दिया । मेरे प्रियतम अब मैं तुम्हारे हाथ में हूं ।

शंख बजाया कुलजं पुरोहिते, इन्द्राला खबर सुनाई तँई बापुआ कन्या कुंआरी आज हुई पराई। आयेगी शोरे बापूए शोरे, आज रामा मुठडुए तेरे।

वेदी गीत :

वेदी घर से बाहर आंगन में होती है। सात भांवरे होती है और वधू के लिए दान दिया जाता है वेदी गीत इस प्रकार है :

हिमा कन्ता, ऋषिए धौरे बेटड़ी जरमी।
केउ जरमी नकक्षत्रे के उ जरमी बारे ?
दीखे जरमी नकक्षत्रे बिखे जरमी बारे।
केउ जरमी नकक्षत्रे केउ जरमी बारे ?
आच्छे जरमी नकक्षत्रे बुधे जरमी बारे।
पारा पेरु आएगो ताता राउड़ी जामाता
छारा पोकी राउड़ँ ले बेटी न देउ
जोटाधारी राउडा लै बेटी न देउ।
डैणी डुएलाड़ी मूं वी न लोड़ी।
तेरी बेटी लौही जाउ गिरी कोबिलासे।
चोन्द्रो न बरीगो ताता नेही बोड़ौ काजौ
नितो नितो शूकांदी माउड़ी मेरी।
सूरजा न बरीगी ताता, नहीं बोड़ौ काजौ।
नितो-निता तोपांदी माउड़ी मेरी।
पाणी न बरीगी ताता, नहीं बीड़ौ काजौ।
नितो मिले भिआंदी माउड़ी मेरी।
कौरे कौरे पड़मेसुरा आपणो रूपा।
तो हे देउ औरिगों तो ही देउ धूपा
कौरे कौरे पड़मेसुरा आपणो रूपा।
सिरा केरी अभिरंगा पाए देह लाए।
पाये केरा पौदिमा सिरे दी लाए।
सिरा केरे अभिरंगा सिरा दी लाए।
पाये केरी पौदिमा पामे नी लाए।

इस पूरे गीत का भावार्थ है कि हिमालय के घर बेटी हुई है वह बेटी किस नक्षत्र में किस बार में हुई है। अच्छे नक्षत्र तथा बुधवार को जन्मी है। हिमालय का कहना है कि मैं अपनी बेटी का विवाह राख खाने वाले योगी से जिस ने जटाएँ रखी हुई हैं नहीं करुगा। इस प्रकार शिवजी कहते हैं में भी तेरी इस बेटी के साथ विवाह नही करुंगा। मैं इसे कैलाश पर ले जाऊंगा। हे भोले शंकर मेरी मां दुःखी हो भी, आप अपना वास्तविक रुप धारण करो।

एक अन्य गीत जो कन्या के पक्ष मैं नारियां दान की वेला में गाती हैं :—

आज की घँड़ी बाबुआ अकी ——
मुलँ आणो आंगणँ दाणा
होरि जँ दाणा बाबुआ सब गेयो आई ——
आओ मैं थोड़ू कापड़ँयो दाणा
मूं होंदी बाबूआ कर्मा री अरी
भाई हौंदो कर्मा र प्रा — —
बागे बगीचे मूलँ न मैंड़ दो।
मूलँ मैंड़ा बांडीया भागा —
होर जँ दाना बाबुआ सब गेओ आई
आओ ने गाई में हीओ दाणा —
सुनँ चांदी ओ दाणा
दशा जँ महीनँ उदरँ लैई
छया महनँ बाबुआ गोदीये खलँ उई
आज कँ अकी दीनी —
आज की बाबुआ अकी दीनी
मूलँ आणो आंगणँ दाणा।

इस गीत में दान दहेज का वर्णन किया गया है बेटी बाप से कहती है, कि हे, पिता जी आज क्या दुःख दिए जो दहेज आंगन में ले आए बाकी सारा समान है पर परिधान, इत्यादि अभी नहीं मिले। पिता जी क्या मैं कर्मो की अधूरी हूं, जो कुछ भी मुझे मिलता है बांट कर ही मिलता है। पर भाई कर्मो का पूरा है।

बाकि दान दहेज प्राप्त हो गया पर गाय. भैंस अभी बाकी है, सोना चांदी भी शेष हैं। माता ने दस महीने तक पेट में रखा और दुःख भोगे आप ने छः महीने गोद में उठाए रखा पर पिता जी मैंने तुम्हें कितना दुःख दिया है आप मुझे आंगन में ही दहेज ले आना।

शादी हो जाने पर वधू को उसके मां-बाप, बहन, भाई नाते, रिश्तेदार व सहेलियां विदाई देती हैं। शादी का यह पहलू बड़ा उदास सा है सब को वधू से बिछुड़ने का उल्लासमय दुःख है, जब वधू अन्जाने साथी के साथ सब को छोड़ कर ससुराल जा रही है। इस वेला पर जो गीत गाये जाते हैं वह पाषाण हृदय को भी पिघला देते हैं। कन्या ने जिस घर में, जिस आंगन में, अपना बचपन खेला जवानी की दहलीज पर आई आज उसी आंगन, घर, परिवार व सखी सहेलियों को छोड़ कर परदेस जाना है, जिस मां ने जन्म दिया, जिस बाप ने पाल पोस कर बड़ा किया, उन को छोड़ कर जाना है। मां-बाप भी कम उदास नहीं है पर फिर भी वह धैर्य धारण कर कहते हैं।

सातू हुये सूतका, आज हुए देली का दूर
आज हुऐ देली का दूर।
रोए न बेटिया, खोए न टीको सांदूर,
खोए न टीको सांदूर।

बेटी तू आज तक तो हमारे दुःख सुख, खुशी गमी की भागीदार थी पर आज से तू हम से दूर हो गई है। बेटी रो मत अपने आंसुओं से अपने माथे के सिंदूर (सुहाग चिन्ह) को न मिटा।

बेटी को तो न रोने को कह रहे हैं पर खुद मां का रोना रोके नहीं रुकता।

'रुठी धौरे साउरे जाउदीए, पेंछी धौरे आसीसां देंदीए गाउरीए''

तथा

धानों बौए बेटीए देउड़ी दुआरे, आजौ छुटो सौगणी करो साथा।
धानों बौए बेटीए देउड़ी दुआरे आजो छूटो बेटीए गुड़ी केरो साथा।
धानों बौए बेटीए देउड़ी दुआरे, आजौ टो बेटीछूका बाबू केरो धौरा।

बेटी सुन, जाते जाते दरवाजे पर धान बो देना। आज से तुम्हारा अपनी सहलियों का साथ छूटा, गुड़ियों का खेल तुम से छूटा और छूटा पिता का घर।

फिर बेटी को विदा करते हुए मां बाप को उस के हर काम की याद आती है। कैसे वो विनायक की पूजा करती थी, अब कौन करेगा। कहते हैं—बेटी विनायक से वरदान मांगती है कि तेरा सुहाग युग-युग तक बना रहा।

देउड़ी पूजै वानायिका, तेउ नहीं पूजदो कोए
तेड बोरा मांगें तू बेटीए, जुगे-जुगे जीवा तेरो कोन्ता
सुने जेही तो पीतली तेहा नहीं हड़बादौ कोए
तेउ बोरा मांगे तू बेटिए जुगे जुगे जीवा तेरा कोन्ता।
मांझी सामद्रे कैंमाटी, तेआ नहीं उचदौ कोष्ठ,
तेउ बौरा मांगे तू बेटीए, जुगे-जुगे जीवा तेरा कोन्ता
एक बदांउणे आ, ओ बदाउंणे आ।
घिरी फिरी ऐ तो घौरे आए।

अभी तो सिर्फ माता से विदाई ली है पिता जी से तो अभी विदाई लेनी है और पति देव कहते हैं कि विदाई शीघ्र लो :

उड़े उड़े कूंजरिए वेश बेगनिए,

पत्नी जबाब देती है :—

"किआ कोरी मैं उडू मेरे साइंया, मेरे दादू भी न मीलए
घूड़े उड़े कूंजरिए देश बेगनिए।"

(न तो अभी पिता मिले हैं, न दादा न चाचा न वीर में कैसे उड़ चलूं पिया)——

पिता से कन्या विदाई लेती है। मुझे दूर ससुराल जाना है। मुझे विदाई दो। पिता कहता है जा बेटी पर हमें न भूलना, भला यह भी कोई भूलने वाली बात है। पिता में आप को कैसे भूल सकती हूं।

हुकमा दे मेरेआ बापूआ, दूर मेरे शाउरीए जाना।
दस जो महीने बहारी उदरे आज किआ हुकम तू मांगे
जाणा ले ता जाए मेरी धीउड़िए झींणा न तुम्हारे दर्दा छाड़े।
झीणां न छाड़दी बापूआ दर्दा वेणा लागा गुणन बगैना।

वर वधू का स्वागत

अब वर वधू वर के घर पहुंचते हैं द्वार पर उन का स्वागत होता है इस गीत द्वारा

रातीए पीउड़ी ए घोड़ीए पीउणो जै पाओ पारवारा
तेथा ऊपर चढ़ी जांदो कृष्णा जी कृष्ण मुरारी री मेली घोड़ी गाड़ाइए।
नीलो जै पाओ, परकाल तैथा ऊपर चढी जांदो कृष्णा जी।

वर वधू को माता तथा देवी देवताओं के पांव पड़ने को कहा जाता है तथा वह भी सिर झुका कर प्रणाम करते हैं। इसी गीत को पालकी अथवा घोड़े का गीत भी कहा जाता है।

अन्देरड़न

वर वधु जब घर में प्रवेश कर लेते हैं तथा द्वार पर उन का स्वागत हो जाता है उस के बाद मां बेटे से पूछती है कि तेरा कैसा आदर (स्वागत कन्या पक्ष के घर में) हुआ। सास ने कैसा स्वागत किया। बेटा माँ को बताता है सास ने मेरा बहुत स्वागत किया अच्छा-अच्छा खाना बना कर खिलाया, मेरे सालों ने मेरे साथ जुआ पाशा खेला।

घमौदा घामादौ आओ आजा, शशुईए तेरी ए क्या मांना कीओ।
शाशुईए मेरीए आनणी झीझणी दीनी, सोए माना कीओ आजा।
घूमादौ घामादौ आऔ आजा, शेउरे तेरे क्या माना कीओ।
शेउरे मेरेए खाडू काटे बाकरे सोए माना की ओ आजा
घूमादौ घामदौ आओ आजा, साड़े तेरेए क्या गाना कीओ।
साड़े मेरेए जूए खेले पाशैं, सोए माना कीओ आजा।

विवाह का पवित्र बंधन तो बंध गया तब इसे निभाना। यह वो रिश्ता है जो दो दिलों से जुड़ता है इस में पति-पत्नी एक दूसरे के ही हो जाते हैं। इस प्रकार कुल्लू में अनेक लोक परम्पराओं, लोकाचारों से युक्त थे विवाह उक्तविधि से सम्पन्न होते हैं।

द्वारा ए० एन० बरोवालिया,
राज्यपाल के निजी सचिव
हि० प्र० राजभवन, शिमला-171002

हिमाचल प्रदेश के लोकगीतों में हमारे रिश्ते–नाते

रत्नचन्द "निर्झर"

लोकगीत किसी भी प्रदेश 'जाति' देश के विभिन्न सम्प्रदायों के जन-जीवन का अवलोकन कराते हैं इन गीतों से हमें उनके रहन-सहन, खान पान रीति रिवाजों, मेल-मिलाप एवं उनके सुख-दुःख, उनके मनोभावों व सांस्कृतिक गतिविधियों की स्पष्ट तस्वीर देखने एवं सुनने को मिलती है। वास्तव में ये लोकगीत एवं लोकनृत्य मानव जीवन का दपर्ण होते हैं, जहां एक ओर प्रदेश की भूगौलिक परिस्थितियों, प्रदेश के जन-जीवन, यहां की प्राकृतिक सुषमा का अवलोकन लोकगीतों से होता है, वहाँ दूसरी और इनमें अपनी सम्बन्धों मेल-मिलाप व एकता की भावना भी सुनने को मिलती है।

लोकगीतों में केवल जनमनस ही नहीं और भी तथ्य निहित होते हैं। महात्मा गान्धी के अनुसार "लोकगीतों में पहाड़ गाते है, नदियां गाती है, फसलें गाती है, ऋतुएं गाती हैं"। यह कथन हिमाचल प्रदेश के लोकगीतों में सर्वत्र मिलता है। हमारा हिमाचल प्रदेश जहां एक ओर अपनी प्राकृतिक सौन्दर्य से पर्यटकों का आकर्षण केन्द्र रहा है, वहां दूसरी ओर इस प्रदेश की सांस्कृतिक गतिविधियां केवल भारत में ही नहीं बाहर के देशों में भी फैली है। इस प्रदेश के लोकनृत्य एवं लोकगीत अपना विशेष स्थान रखते हैं। कुल्लू के अन्तराष्ट्रीय दशहरा उत्सव एवं स्वतन्त्रता समारोह, गणतन्त्र दिवस समारोह के अवसर पर दिल्ली एवं कुल्लू में इस घाटी के नृत्य एवं गीतों तो क्रमश कैमरों एवं कैसटों में रिकार्ड व चित्रित करने लग जाते है। एक अमिट छाप इनके दिलों तक पहुंच जाती है : अभी-2 कुछ महीने पूर्व किन्नौर घाटी के सांगला ग्राम का लोकनृतकदल यूरोप देशों के निमन्त्रण पर भाषा विभाग हि० प्र० की ओर से गया था।

घने देवदारों, चीड़ों के वृक्षों से प्रक्त पहाड़ की चरागाहों पर पशु चराते हुए ग्वालों एवं भेड़-बकरियों के "घण" के साथ जाते ये गद्धी "मितर" एवं खेतों में काम करती महिलाओं मेलों को जाती महिलाओं एवं पुरुषों के सामुहिक स्वरों से, या विवाह अन्य उत्सवों पर गाए जाने वाले में लोकगीत जब किसी गायक/गायिका के स्वर से निकलते हैं तो सारा वातावरण संगीत ध्वनि से मुखरित हो उठता है चाहे जंगल हो या खेत जब भी बांसुरी से मधुर ध्वनि निकलती है, पथिक के कदम अनापन्स रुक से जाते हैं, इन गीतों में जहां एक ओर खुशी, उत्साह एवं उमंग का प्रवाह है, वहां दूसरी ओर करुणा एवं गहरी वेदना के भाव में छिपे हैं।

दर्दीले गीत के बोल किसी गायक/गयिका के स्वर से निकल कर स्रोताओं के अन्तर्मन तक छू जाते हैं : करुणा का स्त्रोत आंसुओं के रूप में बह उठता है।

इन गीतों में जहां इस प्रदेश की संस्कृति छिपी है वहां दूसरी ओर मानव जीवन के सम्बन्धों को भी अछूता नहीं छोड़ा गया है। मानव का सम्बन्ध केवल परिवार तक ही सीमित नहीं, कहीं-कहीं यह "मितर सजण" के रूप तक मिलता है। हर अजनबी व्यक्ति को "मितर" कह कर पुकारना इस प्रदेश की विशेषता रही है। समाज की सबसे छोटी ईकाई परिवार है। यही परिवार विस्तृत रूप धारण करके एक सम्प्रदाय, एक जाति, एक वर्ग से फिर राष्ट्र का प्राणधार बन जाने पर एवं गांव, जिला, प्रदेश एवं राष्ट्र का रूप धारण करता है। जिस परिवार में सभी सदस्य मिल-जुल कर रहते हैं उन सदस्यों का कोई न कोई आपस में सम्बन्ध अवश्य बन जाता है। जिसे प्राय :- चाचा-चाची, भाई-भाभी, भाभी-देवर, नाना-नानी,मामा-मामी, मां-बापू, बेटा-बेटी, देवर-देवरानी, जेठ-जेठानी, ननद-भाभी, एवं जीजा-साली इत्यादि कई रूपों से मिलते हैं। फिर हमारे लोकगीत इन सम्बन्धों से कैसे दूर रह सकते हैं, विवाह गीतों में प्रायः इन रिश्तों का जिक्र अवश्य सुनने को मिलता है।

व्यवाहिरक जीवन में भी ये रिश्ते-नाते गीतों का अंग बन जाते हैं। विवाह गीतों में जहां एक ओर इन रिश्ते-नातों को हास्य व्यंग गीतों के लिए प्रयुक्त किया जाता है वहां दूसरी ओर बेटी इन रिश्ते नातों को अपना लाड़लापन दर्शाने के लिए भी प्रगट करती है : इस गीत को देखें :—

"लम्बीयां झम्बीयां गांजरा जी,
लम्बे झम्बे खजूर
कोठे चढ़ के देखदी मेरे बाबे दा घर दूर
अम्मा दी मैं लाड़ली मेरे बापूये देई छड़ी दूर
कोठे चढ़ के देखदी मेरे बापूये दा घर दूर !

भावार्थ : बेटी कह रही है कि लम्बी गाजरें और ऊँचे खजूर के वृक्ष है मैं ऊपर छत पर जाकर देखती हूं मेरे पिता जी के घर बहुत दुर है। मां की मैं बहुत लाडली थी परन्तु बापू ने बड़ी दूर मेरा ब्याह कर दिया।

यह तो रहा बेटी का लाड़लापन। प्रस्तुत लेख में मैं केवल उन गीतों पर प्रकाश डालूंगा। जिसमें देवर भाभी के रिश्ते का जिक्र सुनने को मिलता है, देवर भाभी का सम्बन्ध हमारे लोकगीतों में यत्र-तत्र मिलता है। देवर-भाभी का मधुर सम्बन्ध सदियों से चलता आ रहा है। भाभी देवर के सम्बन्धों में जहां कहीं-कहीं भाई-बहन के प्यार की मिठास होती है, वहां दूसरी ओर भाभी छोटे देवर के लिए

मां की भूमिका भी अदा करती है। प्रायः देवर को "भाई" या "राजा" कह कर पुकारती है, कहीं-2 नाम लेकर भी पुकारा जाता है। सास के होने या न होने पर भाभी उमर में छोटे देवर को मां का पवित्र स्नेह लुटाती है। कई बार तो वह अपनी सन्तान तक को भुला देता है। देवर भी आज्ञाकारी बेटे की तरह भाभी को मां जैसा सम्मान व आदर देता है, लक्ष्मण ने अपने भाई रामचन्द्र के साथ वनवास के दौरान सीता भाभी की सेवा की थी।

देवर को भाभी अपना छोटा भाई समझ कर प्यार व दुलार देती है, कई बार शरारत करने पर भी भाभी देवर का पक्ष लेती है। अपने प्यार का इजहार भी देवर भाभी से करता है। शरारती देवर, भाई-भाभी की 'सुहागरात' भला इस समय वह शरारत करने से कैसे चूक जाए ? प्यार की वह सुखद चुहलबाजियों की अनुभुति भाभी को हमेशा याद रहती है। शरारती देवर चुटकलों एवं हास्य की बातें सुनाकर भाभी को मायके की यादें भुलाने का प्रयत्न करता है।

नया घर, नया वातावरण एवं नये लोगों के बीच भाभी का उदास रहना स्वाभाविक ही है। नये वातावरण में अपने को ढालना मुश्किल होता है। ऐसे समय में देवर भाभी की उदासी को दूर करने का प्रयत्न करता है। हमारे विवाह की रस्मों, रिवाजों में देवर की आंखों में काजल लगाने का पहला हक भाभी को ही है। लोक गीतों को देखिए, देवर की शादी हो रही है, भाभी काजल लगा कर कह रही है, व्यगं की बौछार समझो !

"हाखी चिपड़िपा देऊरा कजल बाही के रवाया"

कितना मीठा व्यंग छिपा हुआ इस उपरोक्त गीत में, अन्य दूसरे गीत में भी भाभी देवर का यह प्रसंग पठनीय है :-

"उठ देरणुआं ओ उठी करी मीतां जो खोल
उठो मेरे देरणुआं ओ रैन भ्याग जे होई
उठो मेरे देरणुआं ....
भावो मेरड़िये ओ पैंहले खोले कन्द तेरा
पीछे छोटा देरणुआं.........
उठ देरणुआं ओ उठी करी मैंहसी जो दुंहेया.........
'उठो मेरा देरणुआ.........
भावो मेरड़िये ओ पैंहले खोले कन्द तेरा
पीछे छोटा देरणुआ.........

भाई भाभी और देवर इकठ्ठे एक कमरे में सोए हैं। सुबह की सफेदी फैल रही। भाभी उपरोक्त गीत में देवर को कह रही है कि "हे मेरे देवर राजा" ! रैन सुबह हो गई है जाकर दरवाजा खोल दो। देवर भी बड़ा चालाक है, और नींद की खुमारी में बहाना लगा कर टाल देता है और कहता है कि भाभी पहले तुम्हारा पति (यानी भाई) उठेगा। पीछे से तुम्हारा छोटा देवर। इसी तरह जब भाभी देवर को भैंस दुहने के लिए कहती है, छोटा देवर वही पीछे वाला बहाना लगा देता है।

इस तरह हमारे इन लोकगीतों में जहां एक ओर प्यार एवं माधुर्य भाव है, वहीं दूसरी ओर वैराग्य और उपलाम्भ भी हैं। भाभी के ताने पर देवर ने सन्यास धारण कर लिया है। कांगड़ा के प्रसिद्ध लोकगीत में इसका वर्णन है—गीत देखिए :—

भला साधु जोगिया हो मोया
कांगड़े दे बणे, भलेया ओ कांगड़े दे बणे
बणे विच धूणा हो जोगिया.........
भला साधु जोगिया.........हो मोया
भाबिया रे टोकेयां भलेया ओ भाभिया रे टोकेया
जोग ते धारेया ओ जोगिया.........
भला साधु जोगिया ओ मोया हट्टी ते घराटी
भलेया ओ हट्टी ते घराटी
गलां तेरी ओ जोगिया
भला साधु जोगिया ओ मोया घरे तेरे बालक जनाना
भलेया ओ घरे बैठी रोये तेरी अमां
घरां जो तू आयां ओ जोगिया.........
भला साधु ....

उपरोक्त गीत में एक देवर अपने भाभी के ताने को सुनकर योगी बन गया है। गांव वाले उसे गीत के रूप में बुला रहे हैं, हे भले साधु योगी, कांगड़ा की सीमा के साथ वाले जंगल में तेरी धूणी है। और तुमने भाभी के ताने पर सन्यास धारण कर लिया है। तुम्हारी चर्चा दुकानों एवं "घराटों" (पनचक्कियों) तक हो रही है। घर में तुम्हारी छोटी उम्र की पत्नी है। तुम्हारी मां वियोग में आंसू बहा रही है। तुम घर को वापिस आ जाओ।

उपरोक्त गीत में कितना मार्मिक वर्णन सुनने को मिलता है। परन्तु यही नहीं जहां देवर ने भाभी के ताने से सन्यास ले लिया। वहीं दूसरी ओर देवर भाभी के साथ मेला देखने को कहता है। गीत की कुछ पंक्तियां देखें :—

दैंवा विज्जू को बाकरा देणा, बाकरी देणी जतोगी,
ओ भाभिये मेले खे जाणा सौगी.........

देवर कह रहा है कि विज्जू देवता को बकरा एवं जतोगी माता को बकरी की बलि देनी है। भाभी हमने मेले में साथ जाना है। आगे इसी गीत की यह पंक्तियां देखिए :—

फुली करो ला फुलणू . ...
डाली फूलो री काती
तेरे ता जाणा मेले खे भाविए
माखे वी लेई चल साथी
ओ भाभिये मेले.........
फूली करो लो फुलणू फुलणू
ऐवे फूलणा कांगू ......
पाणी पीणा बोलो मुकरा भाभिये
तेरे हाथा ते मामू

पर्वत पर सभी फूल खिल चुके हैं अब केवल 'कांगू' का फूल खिलने को बाकी है। मुकटा भाभी ! तुम्हारे हाथों से पानी मांग कर पीऊंगा। इसी तरह सभी फूल खिल चुके हैं। केवल 'कानी' फूल खिलने को रह गया है। भाभी तुमने तो मेले को जाना है। मुझे भी साथ ले चलो।

एक अन्य गीत में देवर अजनबी देश में भाभी से देख सुन कर चलने की सलाह देता है। गीत देखिए :—

मुलख बगाने रा भाभिये,
देखी सुणी के हाड़णा हो.........
ऊंची धारा दा पीपल फूलेया,
कनें फूली रा रीणा हो
ओ छांवा बैठी के गलां जे करनी
ठण्डा पाणी पीणा हो।

हे भाभी ! पराये मुलख में देख सुन कर ही चलना ठीक रहता है।

ऊंची धार पर पीपल में फूल खिल आए हैं और साथ में "रीणा" खिला हुआ है। इस वृक्ष की छांव तले बैठ कर बातें करनी हैं और ठण्डा-ठण्डा पानी पीना है।

एक अन्य गीत में देवर भाभी के दिलों की बातें कुछ यूं सी हैं। यह लोकगीत "कूकू किहा बोलदा" के नाम से जाना जाता है :—

गीत कुछ यूं है
"किहां बोलदा ओ मेरी जान भाभी
कूकू किहां बोलदा.........
मण्डिया सुकेता रे सौहणे-सौहणे राजे --
दिखणे जो जी मेरा ललचांदा
ओ किहां बोलदा.........
चम्बे दियां धारां पैन फुहारां
दिखणे जो जी ललचांदा.........
शिमला होर मण्डिया रे विच बिलासपुर जे वसदा
दिखणे जो जी ललचांदा.........
कूकू किहां बोलदा.........
भरियां बन्दूकां भाभी मोंढ़े पर धरियां
मारी लैणी तितरां की जोड़ी भाभी
कूकू किहां बोलदा ....

उपरोक्त गीत में भाभी एक ओर मण्डी और सुकेत के नरेशों की सुन्दरता का वर्णन कर उन्हें देखने की मन की अभिलाषा व्यक्त कर रही है। आगे कह रही है कि शिमला और मण्डी के बीच में बिलासपुर बसा हुआ है। उस शहर को देखने को मन बहुत ललचा रहा है। आगे कह रही है कि चम्बा की धार पर बर्फ की फुहारें पड़ रही हैं उन फुहारों को नजदीक से देखने को मन कर रहा है। भरी हुई बन्दूक कन्धे पर रखनी है और तीतर की जोड़ी का शिकार करना है। भाभी कूकू किस तरह बोलता है ? एक अन्य कांगड़ा के लोकगीत "कूंजां" में भी देवर भाभी का चित्रण मिलता है :—

कूजां जाई रहियां नदौण जित्थी ठण्डा बगदा नौण
दूध भत खाई लेयां देऊरा मेरया बांकेया देऊरा
कूंजां जाई रहियां पपरौले. भाभी रोये डुग्घे खोलै
इक पल बही लेया देऊरा मेरेया बांकेयां देऊरा
कूजां जाई रहियां अकरोट
चिट्टे दन्द गुलाबी होठ
इक पल बही लेयां देऊरा मेरया बांकेया देऊरा

उपरोक्त गीत में भाभी देवर से कह रही है कूजां नदौण जा पहुंची है, जहां ठण्डी-ठण्डी हवा वह रही। हे मेरे बांके देवर दूध-भात खा कर जाना। कूजां पपरोले जा पहुंची हैं, भाभी अपने दिल में दर्द को बताना चाहती है, भाभी देवर से एक क्षण बैठने को वह रही है। कूजां अकरोट जा पहुंची और सफेद दांत एवं गुलाबी होठों को सौन्दर्य है एक पल बैठ लेना मेरे देवर।

बिलासपुरी के इस लोकगीत में भाभी को मनोव्यथा को किस तरह गायिका मनसा पण्डित ने उभारा। इस गीत में भाभी के मन का आक्रोश स्पष्ट दिखाई दे रहा है। यह गीत मनसा पण्डित द्वारा ही रचित हैं :—

चिट्टी घघरी बादामी कुर्ता
कि रोटी लेके दयोर नूं चली-चली
खेते-खेते टोलयां मैं बनेया-ब टोलया
बड़ीया रा छावा सुतेया दयोरा भालेया
ऐ ले रोट्टिया रा गट्ठ अत्पू खोलेया, हाऊं मापेंया सुःख च पली
रोटी खाई लेयां बसरमा देऊरा।
मन्जें पर बैठी दयोरा अम्मा तेरी लड़दी
किन्हां ओ गल्लां री मुआं कसरां सैं कढ़दी
खेता लड़ी-लड़ी पौन्दा दयोरा तू—
हाऊँ वी इन्हां घुपां च जली
रोटी खाई ले.................
हाऊं वी मापेयां सुख च पली
देख अज मापेयां जो भेजूं मैं संदेशा
घरे खायां रोटी, मौंहि खांया खेता
मांह ते हुन्दा नी तेरा ओ जलेवा
हाऊँ वी इन्हा घूपां च जली......
रोटी खाई ले.. ....

उपरोक्त गीत में भाभी रोटी की गठरी लेकर देवर को खिलाने खेतों में पहुंच गई हैं परन्तु देवर कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं। लोक कवि ने उसका चित्रण यूं किया है कि उसने सफेद रंग की घघरी एवं बादामी रंग का कुर्ता डाला हुआ है और देवर को रोटी लेकर जा रही है।

आगे कह रही हे मैंने उसे खेत-2 में ढूंढा, खेत की सीमाओं में ढूंढा, और ढूंढते-2 उसकी नज़र बड़ वृक्ष के नीचे छाया में साये हुए देवर पर पड़ती है। भाभी उसे जगाती है, और रोटी की

गठरी थमा देती है। यह लो रोटी गठरी और अपने आप खोल लेना। मुझे भी माता-पिता ने सुःखों से पाला है। आगे फिर कह रही है कि बेशर्म देवर। रोटी खा लो। मैं इस जेठ की दुपहरी में तपती हुई आई हूं। आगे फिर कह रही है कि चारपाई पर बैठी तुम्हारी मां (यानी सास) लड़ती रहती है। पता नहीं वह किन बातों का बदला ले रही है और खेत में देवर तू लड़दा रहता है। मैं भी इस धूप में जली हूं। रोटी खा लो, मैं भी मायके में सुख के साथ पली हूं। फिर कहती है कि मैं आज ही मायके को सन्देश भिजवाऊंगी तू चाहे रोटी खेत में खाना या घर में खाना। मेरे से ये तुम्हारे नखरे सहन नहीं होते। मैं भी इन धूपों में रोज जलती हूं। जिला मण्डी के इस प्रसिद्ध लोकगीत में भाभी "नाजो" के बलिदान को क्या विस्मृत किया जा सकता है।

गीत पठनीय है :—

"बाराहां जे बरसे पुत घर आया जी पुत घर आया......
जाई बैठेया मरुयें दी छांव
नी पंज पंतरे मेरी जान
कि नाजो जो गलो माले कुने दितियां, मेरी जान
आया तू कन्दा बैठ तू पटड़े
पंज पतरे मेरी जान............
हाऊ तूजो पूछदा ओ अम्मा जे मेरिए
सच दस नाजो जो कूणे दिती माल
पंज पतरे मेरी जान............
हाऊ तां क्या जाणू पुतरा तू मेरया
जाई आपणी बोबो तो पूछ ....
तेसा बाल खबर हुगी। ......
चरखा जे कातदी भेण तू मेरिये,
सच दस नाजो जो कुणें दिती माल।
हांऊ ता क्या जाणू भाईया तू मेरया,
जाई के तू भाभी जो पूछ.
तेसा वाले खबर हुंगी मेरी जान
रोटियां पकान्दी, नाजो तू मेरिये
सच-2 दस मूंजों आज,
नाजो, माला दिती कूने भाज
पंज लड़िए माल.........

झूठ गलान्दे सैं नरका जो जान्दे
सच्चेया दे बेड़े हुन्दे पार
गले माला दियोरे दिती आज
लेआ तू घोड़ा लेओ तू कटारी
छोटा भाई बड़ी छड़णा आज,

उपरोक्त गीत का नायका बारह वर्ष के पश्चात जब घर वापिस आता है तो अपनी पत्नी नाजो के गले माला पड़ी देखकर शंकित हो उठता है। सन्देह के बीज दिल में पैदा हो जाते है।

नाजो अपने पति को 'पटड़े' के ऊपर बैठने को कह रही है, मरु वृक्ष की छांव मैं बैठने के पश्चात वह जाकर अपनी माता से पूछता है कि मां मुझे सत्य बतादो कि नाजो के गले में माला किसने दी है ? पुत्र के प्रश्न सुन कर माता उत्तर देती है कि है बेटा ! इस बारे में मुझे कोई पता नहीं जाकर अपनी बहन से पूछ ले शायद वह कुछ जानती हो ? फिर वह जाकर चरखा कात रही बहन से पूछता है कि मेरी बहन, मुझे सच-2 बता दो कि नाजो के गले में माला किसने दी है। बहन भी नकारत्मक उत्तर देती है और नाजो से ही पूछने को कहती है आगे जाकर वह अपनी नाजो से वही प्रश्न पूछता है कि तुम्हारे गले में यह माला किसने दी है नाजो उत्तर देती है कि हे मेरे प्राणप्रिय : जो व्यक्ति झूठ बोलते हैं वह नरक के भागी बनते हैं। सच बोलने वालो के ही बेड़े पार लगते हैं इस कारण में सत्य ही बता देती हूं। यह गले में माला छोटे देवर ने दी है।

इतना सुनते ही पति क्रोधित हो उठता है और नाजो से कहता है कि मेरी तलवार और घोड़ा लाओ। मैं आज छोटे भाई को मार डालूंगा। इतना सुनते ही नाजो थर-थर कांपने लगती है और पति को रोकने का प्रयत्न करती है। आगे-आगे पति घोड़ा लेकर भाई को मारने दौड़ पड़ता है नाजो भी किसी तरह वहां पहुंच जाती है ज्यों ही नाजो का पति तलवार का वार छोटे भाई पर करता है। नाजो उसके आगे आ जाती है। और अपना बलिदान देकर छोटे भाई की रक्षा कर लेती है। मरते वक्त बस यही कहती है आपको पत्नी और मिल जायेगी, लेकिन भाई नहीं मिल सकता। बस मेरी यह कामना है दोनों भाईयों की जोड़ी सलामत रहे। इस तरह नाजो ने अपना बलिदान दे दिया। आज भी वह लोकगीत के रूप में अमर है।

एक अन्य गीत में देवर अतिथि के रूप में सुनने को मिलता है। गीत की कुछ पंक्तियां यूं हैं।

वट्टी भर दाणे भुनाने ओ मेरया छकुआ
दाणे भुनाई के करां जो आए
अगे मिला दयोर परोहणा ओ मेरया छकुआ ।

इसी तरह अन्य लोकगीत में देवर कहीं थानेदार के रूप में भी मिलता है । न जाने और कितने अनगिनत लोकगीत होंगे जो मेरी दृष्टि से परे रहे होंगे । जिनमें इस रिश्ते का माधुर्य भाव निहित है ।

वर्तमान समय में इस रिश्ते में कुछ परिवर्तन आ गया है । हमारा वह प्राचीन सम्बन्ध धीरे-धीरे वर्तमान सभ्यता की गहराईयों में खो रहा है । आवश्यकता है उसी रिश्ते की गौरव गरिमा बनाए रखने की जिसके लिए सीता जैसी आदर्श भाभी एवं लक्ष्मण जैसे देवर की आवश्यकता है ।

वीर प्रताप द्वारा
उप-डाकपाल–34-डाकघर
करछम जिला किन्नौर (हि. प्र.)
172105

चम्बा के कुछ लोक गीत

प्रेम कुमार शर्मा

छठी शताब्दी से पूर्व वाली चम्बा की पृष्टभूमि का किसी साधक के शोध की प्रतीक्षा में होने के कारण उसके विषय में कुछ भी कहना विषयान्तर हो जाने का भय है । अतः यहां मैं इतना ही कहूंगा कि छठी शताब्दी के आरम्भ से लेकर बीसवीं शती के लगभग आधे भाग तक चम्बा सूर्यवंशी राजाओं की रियासत रही है जो उत्तरी अक्षांस 32° 10′ और 33°13′ तथा पूर्वी देशान्तर 75°45′ और 77°33′ के मध्य वर्तमान है । इस रियासत के पूर्व में बारह मंगाल दक्षिण में कांगड़ा पश्चिम में पंजाब और उत्तर में जम्मू-काश्मीर स्थित होने से इन सब भागों का पारस्परिक गहन सम्बन्ध बना हुआ है । क्षेत्र कला का रहे अथवा साहित्य की किसी अन्य विद्या का, कम या अधिक प्रभाव अवश्य पाया जाना स्वाभाविक बात है । किसी भी भाग की समीपता एवं दूरी भी फीके अथवा गहरेपन का सूचक अवश्य बनी हुई है । तथापि उपरोक्त सब क्षेत्रों का आदिकाल से कुछ अपना भी सुरक्षित चला आ रहा है जो हिमाचल प्रदेश बनने के उपरान्त तो उभर-उभर कर सामने आता जा रहा है ।

वातावरण की अनेकता हिमाचल के निवासियों में विभिन्नता का कारण है । क्योंकि जो जन समुदाय जैसे भू भाग का निवासी होगा उस के वातावरण का प्रभाव उस समुदाय के रहन सहन, खान-पान, बोल-चाल, रीति-रिवाज, आचार-विचार आदि पर आवश्य पड़ेगा । तभी तो हिमाचल में तरह-तरह के रीति रिवाज रहन सहन, कार्य कलाप आदि दिखाई देते हैं । ऐसे में लोक शब्द देश के किसी भी भू-भाग के निवासी जन समुदाय का सूचक कहलाता है । इसलिए भी कि उस भू-भाग से उसका जन्म जात सम्बन्ध रहता है । उसी सम्बन्ध से प्रकृति प्रदत प्रकटीकरण और सहज प्रवृति होती है। किसी प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं, कृत्रिमता की लीपा पोती एवं नियम जाल का बन्धन नहीं । जो कुछ होता है केवल प्रकृति का परम्परागत कार्य कलाप और विशेषताएं स्वतः सिद्ध होने से स्वयंमेव प्रस्फुटित हो उठती हैं । ऐसे में स्वान्तः विनोदाय के साथ-साथ लोक विनोदाय की भी बात बन जाती है । चातुर्य या नैपुण्य प्रदर्शन के लिए नहीं । तथ्यता और स्वाभाविकता के कारण उस का अपना विशेष महत्व होता है । इन्हीं बातों को देखते हुए यहां मैं हिमाचल के जिला चम्बा के कुछ लोक गीत विवेचन कर रहा हूं ।

लोक गीतों से पहले यदि लोक शब्द पर कुछ लिख दिया जाए तो अनुपयुक्त नहीं होगा। साधारणतया लोक शब्द लोग शब्द का ही पर्यायवाचक है किन्तु यहां लोक शब्द अपने ही वृत का सूचक है। किसी भू-भाग विशेष के लोगों का ही द्योतक माना जाता है। क्योंकि लोक शब्द की अपनी सीमा और क्षेत्र हुआ करता है। इसकी अपनी मान्यताएं, रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाज, परम्पराएं और धारणाएं हुआ करती हैं जिसके फलस्वरूप हमारे रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाज आदि पर विभिन्नता का रंग चढ़ा हुआ है। वातावरण की विविधता स्वाभाविक विवशता में घेर कर लोगों पर अनेक तरह के पुट चढ़ाकर सामने रख देती है। इस प्रकार स्थान भेद के वृत में रहने वाले लोगों का ही परिचायक होता है लोक शब्द।

देवर भाभी के किस्सों से कौन अनभिज्ञ होता है। हठ और प्यार, मान या प्रतिष्ठा, ठट्ठा एवं छेड़खानी जैसे दोनों का स्वभाव ही होता है। उसी की एक किरण प्रस्तुत है :—

उची उची रेहड़ियां पथरु चमके
खड़डा बिच चमकेया पाणी,
मैं ता तिज्जो पुछणा प्रीत किहां लाणी हो।
सब-सब फ़ुलणु फुल्ले समाए
धारा फुल्ले कराळी,
भावो चली प्योके दियोर दिंदा गाली हो।
राखा के देआ बाबुआ,
तू लायां लम्मा गेरा ओ
ओ भावो दे आ देअरा तिजो फिकर कुथेरा हो।
सब-सब फूलणु फुल्ले समाए,
धारा फुल्लियां करेरी
भावो देआ देअरा तू लाज रक्खे मेरी हो।

ऊंची पहाड़ियों पर पत्थर चमक रहे हैं, नालों में पानी चमक रहा है। मैं तुमसे पूछता हूं, प्यार कैसे किया जाता है (किन्तु भाभी प्रश्न का उत्तर टाल कर मायके के लिए तैयार हो जाती है और तब) सब-सब फूल जहां खिले हैं वहां पहाड़ियों पर कचनार भी फूले हैं। भाभी मायके चल पड़ी तब देवर उत्तर न मिलने से जला भुना हो कर गालियां देने लगा। पर भाभी बहाने से कहती है, अरे! सुरक्षित क्षेत्र की रक्षा करने वाले बाबु तुम लम्बा चक्कर काटो, तुम्हें किस बात की चिन्ता है सब तरह के फूल खिले हुए हैं। पहाड़ों पर करेर भी खिली है। ओ भाभी के देवर! मेरी लाज तो रख ले।

पर्वतीय क्षेत्र होने के कारण ऊंचे नीचे भागों और पर्वत के इस ओर तथा उस ओर उपत्यकाओं में बसने वाला जनपद यातायात की असुविधाओं से घिरा रहना स्वाभाविक ही है। ऐसी ही दुर्गमताओं

से घिरी विसरी अपने चहेते से मिलने की आशा के लिए कुछ अपनी इच्छाओं और कठिनाइयों का वर्णन कर रही है। किसी दूर स्थान पर स्थित चहेते से मन-मन में ही बातें कर रही है। उस तक पहुँचना चाहती है पर—

लि्हसी जंघा जोत किहां लाणा,
हाय बो मेरी विसरिये।
अज असां चम्बे जो जाणा,
हाय बो मेरी विसरिये।
चम्बे ताकती दी सूई लुआणी,
हाय बो मेरी विसरिये।
धारा पर बदले दी लेसां,
हाय बो मेरी विसरिये।
प्यारु मेरा देश परदेसा,
हाय बो मेरी विसरिये।
धारा पर फुलियां करेरी,
हाय बो मेरी विसरिये।
रस्ते चलो री कुनी छेड़ी,
हाय बो मेरी विसरिये।
गाई दा नां तेरी विन्दो,
हाय बो मेरी विसरिये।
छाती कने लाई लेयां मिंजो
हाय बो मेरी विसरिये।

स्वयं को स्वयंमेव सम्बोधित कर, ओ मेरी विसरिये। कमजोर टागों से पर्वत को पार कैसे करना है। आज चम्बा को जाना है तथा वहाँ जाकर शक्ति वर्द्धक इजैकशन लगवाना है क्योंकि टांगे तो मेरी कमजोर हैं ही प्राण भी कमजोर हो गए हैं अर्थात मैं दुबली हो गई हूँ। हाय ! ओ मेरी विसरिये, पहाड़ पर बादल की घटाएं दिखाई दे रही हैं उधर मेरा प्रियतम परदेश में है। पहाड़ियो पर करेर नाम की झाड़ी फूल पड़ी है। रास्ते चलते हुए विसरी को किस ने छेड़ा है। तुम्हारी गाय का नाम है विन्दो। हे प्रिय ! मुझे अपने दिल से लगा लो।

एक प्रेमिका अपने प्रेमी को चिढ़ाने के लिए गिलढु कह कर सम्बोधित कर रही है और उलाहना देती है कि घर में तो मरे हुए सा रहता है बन में अर्थात एकांत में मस्त मलंग बना रहता है। लीजिए गीत रूप में दोनों का वार्तालाप सुनिए,—

टोली हेठ गिलढु बठोरा,
जिहां मोरे दा मोरा – तेरे सो ।
बणे जिहां हाथी मस्तोरा,
घरे मुंआ मोरे दा मोरा—तेरे सो ।
रोटी पकांदे मत छेड़ा बो,
मेरा तौआ जली जांदा—तेरे सो ।
पाणी जो जांदे मत छेड़ा हो,
मेरा घड़ा भजी जांदा—तेरे सो ।
घड़ा खांदा खसमें दी दाढ़ी,
मैं ता गप्पा सप्पा लाणी—तेरे सो ।
मेरी बाहीं दे सहारे मत चला हो
मेरी बंगा भजी जांदी—तेरे सो ।
तिज्जो बांई पर बंगडी पुआला,
ते असां गल्ला कत्था लाणी—तेरे सो ।
टोली हेठ गिलढु बठोरा,
जिहां मोरे दा मोरा,
बणे साहन मस्तोरा—तेरे सो ।
अग्ग लग्गी किणु दे घराटा,
जित्ते रोज घराता,
जितणा कमाणा फिरी घाटा—तेरे सो ।

(1) गिलढु—ऐसा व्यक्ति जिसके गले के नीचे रसौली जैसा गोला हो और कद का ठिगना ।

(2) साहन—बैल ।

प्रेमिका कहती है, बड़े से पत्थर के नीचे बैठा हुआ ऐसा लगता है जैसे मरा हुआ है । मुआ घर में तो मरा-मरा रहता है बाहर जैसे हाथी मस्ता हुआ रहता है । रोटियां पकाते हुए मुझे मत छेड़ो मेरा तवा जल जाएगा, तेरी सौगंध मत छेड़ो मुझे ।

गिलढु का उत्तर :—तवा दाढ़ी खाए मालिक की अर्थात् जलता जल क्यों न जाए । तेरी सौगंध ! मैंने तो गप्प ही लगानी है ।

प्रेमिका :—पानी लाने को जाती हुई को मत छेड़ो, मेरा घड़ा टूट जाता है।

प्रेमी गिलढु :—घड़ा टूटता टूट जाए तरी सौगंध ! मैंने तो गप्प सप्प ही लड़ानी है।

प्रेमिका :—मेरी भुजा के सहारे मत चलो. मेरी चूड़ियाँ टूट जाती हैं।

प्रेमी गिलढु :—मैं चूड़ियाँ पहना दूंगा, तेरी सौगन्ध ! हमने गप्पें अवश्य लगानी हैं।

प्रेमिका :— घर में तो तू मरा हुआ रहता है वन में जैसे कट्टा मस्तता है।

प्रेमी गिलढु :—इस किणु (दाणा-दाणा करके नीचे गिरा देने वाला) घराट को आग लग जाए जहाँ प्रतिदिन आधी रात हो जाती है और जितना कमाया जाता है तेरी सौगंध ! उतना ही घाटा पड़ता है।

चम्बा के ऐतिहासिक सूही मेले के दिनों में लड़कियों और स्त्रियों द्वारा गाया जाने वाला यह लोक गीत एक लड़की की भावना को कितने सहज ढंग से व्यक्त करता है। मेला लगने वाली पहाड़ी पर चढ़ती हुई सुन्दरु नाम की लड़की विफर-विफर कर रोती हुई अपने बापू के लिए उलाहना दे रही है —

ढकियाँ हो चढदे वो सुन्दरु,
छवें-छवें रोदियाँ,
मेरी सुन्दरु अनी हो,
मेरी सुन्दरु लुहारिये।
होर ता सब दित्ती वो,
बापुए नेड़े-नेड़े,
मेरी सुन्दरु भला दित्ती,
रावी दे पार हो।
मेरी सुन्दरु अनी हो
मेरी सुन्दरु लुहारिये।
होरना जो दित्ती वो बापुए,
लाल पीले कपड़े,
मेरी सुन्दरु जो दित्ते वो,
बापुए काले नीले कपड़े,
मेरी सुन्दरु अनी ओ,
मेरी सुन्दरु लुहारिये।

मेरी दूसरी बहनों को तो पास-पास दे रक्खा है किन्तु मुझे रावी के पार दिया गया है। (रावी चम्बा नगर के नीचे बहने वाली नदी का नाम है) बेचारी सुन्दरु के लिए जो लुहार जाति की है बाप ने काले मौले वस्त्र दिए हैं जबकि दूसरी बहनों के लिए लाल पीले कपड़े दिए हैं। ओ मेरी बेचारी सुन्दरु लुहारिये ! बाप ने यह अच्छा नहीं किया। इस गीत के विषय में पहाड़ी चढ़ती हुई और रोती हुई को देखकर दूसरी लड़कियों द्वारा भावना की अभिव्यक्ति भी माना जाता है।

बचपन के दो साथी लड़का और लड़की जब अपनी धानी भूमि के पास सहसा आमने सामने हो गए तब लड़की ने राजपूत साथी लड़के की टूटी हुई जूती देखी और बोली—

हारां दे दौरे तेरी जुत्ती टुट्टी,
हो मियां ! जुती टुट्टी,
हंड़णे दी हुंघी तिक्या छोंक बड़ी,
हो मियां छोंकिया,
हंड़ी नी जाणा मियां हारा दौरे,
नी जाणा हारा दौरे,
तिल्ले दा हुंदा नुकशान बड़ा,
हो मड़ेया छोंकिया,
कुत्थुए दी आई चिट्टी घोड़ी तेरी ?
हो चिट्टी घोड़ी तेरी,
कुत्थुए दी काठी तिल्ले दार मियां,
हो मियां छोंकिया,
झिक्के दी है मेरी काठी घोड़ी,
हो मेरी काठी घोड़ी,
घोड़ी दा पुछ न वसेख मड़िये,
गल्ला रोहे दी लायां।

इस धानी भू भाग का चक्कर काटते, हे राजपूत। तुम्हारी जूती टूट गई है। ओ शौकीन मियाँ लगता है चलने फिरने का तुम्हें बहुत चाव है। हे मियाँ। धानी क्षेत्रों के गिर्द पैदल नहीं जाना चाहिए क्योंकि शौकीन मियाँ तिल्ले की बड़ी हानि होती है। (थोड़ी देर बाद जब लड़का घोड़ी पर चढ़ा दिखाई दिया तब लड़की बोली)—तुम्हारी ये सफेद घोड़ी और तिल्लेदार काठी (जीन) कहाँ से आई, ओ शौकिया मियां। लड़के ने उत्तर दिया—यह मेरी घोड़ी और काठी निचले भागों की है। तू

घोड़ी का पता मत पूछ, हे सखी ! दूसरी रोज भरी बातें करो। पति पत्नी दोनों रस्सी से बंधा समान पीठ पर लेकर कहीं से आ रहे हैं। इनका घर लम्बी चढ़ाई चढ़ने के उपरान्त टीले पर बना हुआ है चढ़ाई चढ़ते हुए क्या होता है सेवा में प्रस्तुत है—

त्रुटी गेई छिकणु दी काछी,
बो वैंरिया, माले हो।
त्रुटी पेई गले दी गलेर,
बो सौगिया, माले हो।
किहाँ लाणी जोते दी चढ़ाई,
बो मण्हुआ, माले हो।
बल्ले-बल्ले चढ़णी चढ़ाई,
बो दाही देआ मण्हुआ हो।
जली गेई दाही दी घरीड़ा,
बो साथिया, लाणी हो।
कस्सी लिन्नी छिकणु दी काछीं,
तू चली मत जांदा हो।
अग्गे होल्ली बिखड़ी चढ़ाई,
बों सजणा, माले हो।
गल्ले कत्थे चढ़णी चढ़ाई,
किट्ठे पुजी जाणा हो।

स्त्री स्वभाव के कारण पत्नी धीरे-धीरे और पति थोड़ा तेज चाल से चल रहा है। दोनो का अन्तर बढ़ रहा था। उसी समय पत्नी से एक घटना घटी—पीठ पर लिए बोझ की वह रस्सी टूट गई जो दोनों कन्धों से कसी और बोझ को बाँधे हुए थी। वह पति से बोली, ओ बैरी ! प्रतीक्षा कर लो मेरे कन्धों वाली रस्सी टूट गई है। उसके साथ ही गले की माला भी टूट कर बिखर गई मेरे साथी ! प्रतीक्षा तो कर लो। मैं इस पर्वतीय चढ़ाई को कैसे चढ़ूं ? हे पुरुष ! प्रतीक्षा कर लो। ओ मेरे प्यार के पुरुष ! चढ़ाई धीरे-धीरे चढ़नी होती है, मैं क्या करूँ यह प्यार के कारण ही खींचा तानी की जा रही है। मैं कन्धों की रस्सी को गांठ कर कसती हूं, तुम चले मत जाना। क्योंकि इस से आगे दुर्गम चढ़ाई है मेरे प्रेमी ! प्रतीक्षा कर लो। चढ़ाई बातों-बातों में चढ़नी होती है जिससे हम इकठ्ठे ही पहुँच सकते हैं।

विवाह मण्डप में पहुँचे बारातियों को नारियों द्वारा गालियां गाते सुनिये। एक मुख्य बाराती का नाम लेकर नारियाँ बोल पड़ी —

मिरती के कनारे मत बशदा,
कनारे मत बशदा,
बब तेरे मूसे टुकले,
कन्धारा सीते मत बशदा,
बब तेरे चिचड़ ध्रड़घे।
पन्दा चकुलुए जाई मत वशदा,
जाई मत वशदा,
माआं तेरी सींका चटघी।
खिंद खिंदोलु मत रखदा
सच मत रखदा
मुंगण तेरे बब लगदे।
कूणे दे कनारे मत वशदा
कनारे मत वशदा,
बब तेरे बिच्चु डंगले
मंझ मझाटे मत वशदा
मझाटे मत वशदा
चच तेरे कितणे बठूरे।

बेचारा बाराती बैठे तो कहां क्योंकि उपहास भरी उसे सूचनाएं दी जा रही हैं। ऊपर के किनारे मत बैठना, मत बैठना तेरे बाप चूहे काटेंगे। दीवार के साथ भी मत बैठना, मत बैठना तुझे तेरे बाप पिस्सु काटेंगे। दूसरे आसन और चटाई पर मत बैठना, जाकर मत बैठना तेरी माताएं स्योंकें चाटेंगी। गूदड़ी, गूदड़ू भी अपने लिए मत रखना. सच कहा जाता है मत रखना वहां तेरे बाप खटमल जो हैं। कोने के किनारे मत बैठना, किनारे मत बैठना वहाँ तेरे बाप विच्छु डंक करेंगे। सब के बीच में भी मत बैठना वहाँ कितने ही तुम्हारे बाप बैठे हैं।

छुन्हीं नाम की एक स्त्री जो जादू टोना करने के लिए स्थानीय (चुराह तहसील) लोगों में कुख्यात रही हैं। उसी द्वारा किए गए जादू को लेकर यह लोक गीत प्रस्फुटित हुआ है जो मैं नीचे दे रहा हूँ। मोटली नाम की लड़की पर छुन्हीं का जादू पूर्ण प्रभावी हो चुका है जो कभी छोड़ने वाला नहीं है। इसी बात को लेकर लड़की का बाप सिसकता हुआ बेटी से जादू की अचूकता बता रहा है —

देवी कोठी देहरा डुलेला भोटलिए,
तां तींढ़ा जादू भगेला भोटलिए,
देवी कोठी छुन्ही मरेली भोटलिए,
तां तींढ़ा जादू भगेला भोटलिए,
चँण्ही दा जोत डुलेला भोटलिए,
तां तींढ़ा जादू भगेला भोटलिए,
डील्हे दी धार डुलेली भोटलिए,
तां तींढा जादू भगेला भोटलिए,
मधरे मराल डुलेला भोटलिए,
तां तींढा जादू भगेला भोटलिए
गुज्जर गुलावा मरेला भोटलिए,
तां तींढा जादू भगेला भोटलिए।

शब्द विशेषः—

डुलेला—गिरेगा।
तींढ़ा—तुम्हारा।
भगेला—भागेगा।
मरेली—मरेगी।
चँहणी—एक पर्वत का नाम।
मधरे—एक स्थान का पानी जहां का पनिहार प्रसिद्ध है।
डील्हे—एक पर्वत का नाम।
मराल—एक वृक्ष का नाम।

देवी कोठी नाम के स्थान पर बना हुआ जो मन्दिर है यदि वह गिर जाएगा तब मेरी बेटी भोटली। तुम्हारा जादू भाग सकेगा। देवी कोठी निवासिनी मरेगी, भोटलिए। तभी तुम्हारा जादू दूर होगा। डील्हा नाम की धार जब हिलेगी तभी तुम पर किया जादू भागेगा। मधर पनिहार पर लगा मराल वृक्ष गिरेगा हे भोटलिए। तब तुम पर किया जादू दूर होगा। जब गुलाबा नामक व्यक्ति जादूगर मरेगा तब तुम पर किया जादू भागेगा।

लोक गीतों से कोई विषय अछूता तो रहा नहीं है इसलिए मैंने तो उन में से कुछ ही कण चुनकर पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किए हैं।

जिला भाषा अधिकारी
चम्बा-176310 (हि० प्र०)

बिलासपुर जनपद में

किस्सा रानी किरणमयी

जगदीश चंदेल

बुन्दीगढ़ (राजस्थान) में पृथ्वी राज, राजा की रानी का नाम किरणमयी था। राजा पृथ्वी राज सम्राट अकबर के दरबार में शाह सम्राट के पद पर सुशोभित था। इन्हीं के दरबार में शेरशाह जो अकबर का साला था एक मन्त्री के पद पर कार्यरत था।

एक बार सम्राट अकबर का दरबार लगा हुआ था तो सम्राट अकबर ने अपने दरबार में प्रश्न किया कि मेरे राज्य में कोई भी ऐसी औरत नहीं होगी जो सतवंती हो। इस पर पृथ्वी राज से नहीं रहा गया उन्होंने कहा कि महाराज मेरी रानी किरणमयी सतवंती है। इस पर अकबर नहीं माने तथा बीच में शेरशाह जो अकबर का साला था ने पृथ्वी राज को कहा कि आपकी रानी किरणमयी सतवंती नहीं हो सकती इस पर इन दोनों में शर्त पड़ गई कि यदि शेरशाह यह साबित कर दें कि रानी किरणमयी सतवंती नहीं है तो पृथ्वी राज सम्राट अकबर के दरबार से शाह सम्राट का पद छोड़ देगा तथा फांसी पर चढ़ने को तैयार होगा और यह पद शेरशाह को दे दिया जायेगा। यदि शेरशाह ऐसा नहीं करता तो उन्हें फांसी की सजा दी जायेगी।

शेरशाह को इस बात की बहुत चिन्ता लगी अतः उसने रानी किरणमयी का सतवंती होने का पता लगाने का कार्यक्रम शुरु कर दिया। वह दिल्ली से बुन्दीगढ़ राजस्थान के शहर में चला गया तथा वहां बनजारें (चुडियां बेचने) वाले का कार्य करना आरम्भ कर दिया। तथा उसने सोचा कि रानी किरणमयी कभी न कभी तो चुडियां चढ़ाने यहां आयेगी। परन्तु रानी किरणमयी एक सतवंती रानी थी अतः वह शहर कम ही आती थी। काफी समय बीत गया उधर शर्त का समय भी नजदीक आ रहा था। इसलिये शेरशाह को बहुत चिन्ता लगी हुई थी। एक बार उसे सुझा कि शहर में एक महायज्ञ कराया जाये तथा लोगों से इस बारे में बात की जाये। महायज्ञ में बडवड़ी नर्तकियों को भी बुलाया गया। शेरशाह ने उन नर्तकियों से पूछा कि यदि वह रानी के किसी निशान का पता लगा दें तो वह उन्हें बहुत बड़ी धन राशि देगा। इस पर सभी ने इन्कार किया कि रानी के निशान का पता नहीं लगाया जा सकता परन्तु बीच में एक नर्तकी बहुत लालची थी अतः उसने यह कार्य करने का वचन दिया तथा वह शेरशाह की बहिन बन गई।

शेरशाह की बहिन जो नर्तकी थी उसने शेरशाह को कहा कि वह एक पालकी रंग बिरंगी करके तैयार करवायें. शेरशाह ने पालकी तैयार करवाई तथा चार कहारों के साथ वह नर्तकी रानी किरणमयी के राजमहल की ओर चल दी।

जब पालकी महल के दरवाजे पर उत्तरी तो पृथ्वी राज के जो पहरेदार वहां खड़े थे वह चारों अन्धे थे। परन्तु वह बहुत जानकारी रखने वाले थे। जब उस नर्तकी ने अन्दर जाने को कहा तो उन्होंने पूछा कि आप कौन हो। तब उस नर्तकी ने बताया कि वह पृथ्वी राज की बुआ गवालियर से आई है तथा उसका नाम कौशल्या है। इस पर वह पहरेदार न माने तथा उन्होंने कहा कि आप कौशल्या नहीं है। अतः आप वापिस चले जायें आपको अन्दर नहीं भेजा जा सकता। इस बात का पता रानी किरणमयी को अन्दर महल में चल गया अतः उसने अपने सबसे बड़े मन्त्री को बुलाया तथा उससे पूछा कि क्या पृथ्वी राज की कोई बुआ ग्वालियर में है। तो उसने बताया कि पृथ्वी राज की बुआ कौशल्या ग्वालियर में रहती है। बाद में उसे पहरेदारों ने रानी के कहने पर जाने दिया।

जब वह नर्तकी जो बुआ बनकर रानी किरणमयी से मिलने पधारी तो रानी ने बुआ होने के कारण उसका बड़ा सत्कार किया तथा उसे कहा कि बुआ जी आप नहाना चाहेंगी। इस पर नर्तकी बहुत प्रसन्न हुई कि अब तो पूरा बहाना मिल गया है। अब तो मैं रानी किरणमयी के पूरे गुप्त निशान देख लूंगी। उस नर्तकी ने रानी किरणमयी को कहा कि यदि वह भी मेरे साथ स्नान करे तो वह स्नान करेंगी परन्तु किरणमयी ने ऐसा करने से इन्कार किया। परन्तु वह नर्तकी न मानी तथा कहा कि वह सारी बातें पृथ्वीराज से कहेंगी। इस पर रानी किरणमयी स्नान करने हेतु उसके साथ स्नानागार में चली गई। तथा स्नानागार में उसने एक चादर लगा दी तथा एक तरफ रानी किरणमयी स्नान करने लगी दूसरी तरफ वह नर्तकी। जब वह स्नान कर रही थी तो उस नर्तकी ने एकदम पर्दा उठाया तथा रानी किरणमयी के गुप्त निशान नोट कर लिये जिनमें सांवरे बाल, शरीर के बांये ओर लसणी का निशान तथा पांवों की छः अंगुलियां थी।

स्नान करने के बाद उन्होने भोजन किया तथा उस नर्तकी ने वापिस जाने की इच्छा व्यक्त की। रानी किरणमयी ने बुआ होने के नाते उसे बहुत सत्कार से भेजा तथा वह वापिस शेरशाह के पास पहुंची। तथा वहां जाकर उसने सारे निशान शेरशाह को बता दिये। इस पर शेरशाह बहुत प्रसन्न हुआ। तथा उसने उस नर्तकी को बहुत इनाम इकराम दिये तथा उधर शर्त का समय भी नजदीक आ रहा था। वह वापिस दिल्ली चल दिया। तथा उसने अकबर को यह सारी बात बता दी कि रानी किरणमयी सतवती नहीं मैं उसके निशान बता सकता हूं।

इस पर अकबर ने दरबार बुलाया तथा पृथ्वीराज को भी आमन्त्रित किया। तथा भरी सभा में उसने यह बताया कि राणी किरणमयी के बायें पांव की छः उंगलियां है: सांवरे बाल हैं तथा शरीर के

बांयें तरफ लसणी का निशान है। इस पर इन सभी बातों को पृथ्वीराज मान गया। तथा शर्त के अनुसार उसको शाह सम्राट का पद भी छोड़ना पड़ा तथा उसे जेल भेज दिया गया उसके बाद उसे फांसी होनी थी।

शेरशाह का बड़ा भाई जो उस जेल में एक अच्छे पद पर कार्यरत था को शेरशाह ने अपनी सारी कहानी जिस तरह उसने रानी किरणमयी के निशान प्राप्त किये थे बता दी थी। तथा शेर शाह के भाई ने यह सारी कहानी पृथ्वीराज को जेल में बता दी। इस पर पृथ्वीराज को बहुत गुस्सा आया तथा उसने उसे अपना भाई बनाया तथा कहा कि मुझे एक रात बुन्दीगढ़ जाने की इजाजत दे दें मैं अपनी रानी किरणमयी से मिलना चाहता हूं। इस पर वह न माना परन्तु पृथ्वीराज के बहुत कहने पर वह इस शर्त के साथ मान गया कि वह बुन्दीगढ़ जाकर रानी किरणमयी को कुछ नहीं करेगा। क्योंकि उसे डर था कि कहीं वह जाकर रानी किरणमयी को तलवार से मार न दे। जब पृथ्वीराज रात को बुन्दीगढ़ पहुंचा तो रानी किरणमयी सो रही थी। राजा रात को रानी के पास पहुंचा तथा उसने इस सारी घटना का रानी से पता किया तथा कहा कि उन्हें कल सुबह फांसी होने जा रही है जो रानी किरणमयी के कारण ही होगी। तथा वह वापिस चला गया क्योंकि शर्त के अनुसार उसने जेल भी पहुंचना था। वह सुबह होते होते जेल पहुंच गया।

पृथ्वीराज के जाने के बाद रानी किरणमयी से न रहा गया तथा अपने पति की मृत्यु तथा शेरशाह की होशियारी से चिन्तत होकर वह दिल्ली की ओर सम्राट अकबर के दरबार की ओर चल दी। जब वह दिल्ली शहर पहुंची तो उसे रात को एक मरद शहर में घूमता दिखाई दिया जिसने रानी को पूछा कि वह कौन है क्योंकि रानी मरद का भेष बना कर घोड़े पर सवार होकर गई थी। तो रानी किरणमयी ने उसे कुछ बताना तथा उससे कुछ पूछना उचित न समझा शहर में घूमते-घूमते वह दूसरी गली में पहुंची तथा वहां पर एक साधवी अपनी तपस्या में लीन थी। रानी उसके पास गई तथा उसे अपने दिल की बात बताना उचित समझ कर उसे सारी घटना से परिचित करवा दिया तथा कहा कि वह उन्हें कुछ ऐसा गाना सिखाए तो वह अकबर के दरबार में प्रस्तुत करके पृथ्वीराज को फांसी की सजा से बचा सकें। साधवी ने रानी को ऐसा राग सिखाया कि रानी सुबह तक उसे सिखने में सफल हो गई। तथा वह सुबह अकबर के दरबार में जा पहुंची तथा अपना यह राग सम्राट अकबर को सुनाने की इच्छा प्रकट की जो सम्राट ने मान ली।

रानी का तो अकबर को पता नहीं था कि यह रानी किरणमयी है। परन्तु वह उअके राग से बहुत प्रभावित हुआ तथा उसने उसे कहा कि वह जो मांगना चाहती है वह मांग ले। इस पर रानी किरणमयी ने कहा कि वह कुछ नहीं चाहती वह केवल पृथ्वीराज की फांसी की सजा को माफ करवाना चाहती है। जिसकी सम्राट अकबर मान गया तथा पृथ्वी राज की यह सजा समाप्त हो गई। इसके बाद रानी किरणमयी दरबार में प्रकट हो गई कि वह किरणमयी रानी है। तथा यदि सम्राट अकबर

इजाजत दें तो वह शेरशाह से कुछ सवाल करना/पूछना चाहती है। इस पर शेरशाह को वहां बुलाया गया तथा रानी ने उस से गाकर सवाल किया।

शेरशाह सच सच दसीं
बायें पैंराछ उंगलियां सांवरे बाल
बायें पासे लसणी दा निशान
सच दसयां शेरशाह किने दसया।

हे शेरशाह कि मेरे पांव में छः उंगलियां हैं बायें ओर लसणी का निशान है तथा सांवरे बाल हैं बताओ किसने आपको बताये हैं। इस पर शेरशाह ने कहा।

बुन्दीगढ़ बनजारे री दुकान
उत्थे बहिन मेरी रंहती
बुआ बन कर महले गई
पैंरा छः उंगलिया सांवरे बाल
बायें पासे लसणी दा निशान
बहिने बेब दसया हो रानी
बहिने दसया।

कि हे रानी किरणमयी मैंने बुन्दीगढ़ में एक बनजारे की दुकान डाली थी जहां मेरी एक नर्तकी बहिन बनी थी वह पृथ्वी राज की बुआ बनकर आपके पास गई तथा उसी ने यह सारे निशान मेरे को बताये है। इन सभी बातों को सम्राट अकबर सुनकर बहुत हैरान हो गया था उसने उस नर्तकी को भी दरबार में बुलाया। तथा उस नर्तकी तथा शेरशाह को दोनों को इकठी सजा देनी चाही परन्तु उनके बार बार क्षमा मांगने पर कि वह भविष्य में ऐसा नहीं करेगें सम्राट अकबर ने उन्हें माफ कर दिया। परन्तु बीच के दरबार के ऊपर की तरफ अकबर की बेगम यह सारा किस्सा सुन रहीं थी तथा वह शेरशाह अपने भाई की हरकत देखकर नहीं रह सकी तथा उसने सम्राट अकबर को कहा कि शेरशाह तथा इस नर्तकी को सजा होनी ही चाहिये। इस पर अकबर ने उन्हें सजा सुना दी तथा वह दोनों शेरशाह तथा नर्तकी फांसी पर चढ़ा दिये गये।

यह गाथा आज भी बिलासपुर में बहुत प्यार से गाने के रूप में गाई जाती हे। तथा लोग इस प्रकार के किस्से सुनने के लिये एकत्रित होते है।

राज्य संग्रहालय
शिमला 171004 (हि० प्र०)

हिमाचल प्रदेश का शिल्प

खेमराज गुप्त 'सागर'

हिमाचल प्रदेश को प्रकृति ने, अपने खजाने से ला- मिसाल सौन्दर्य प्रदान किया है। कहीं गाते नाचते झरने हैं, तो कहीं मन मोहक वन ! धवल स्वच्छ हिम शिखर तो देखने वालों को मंत्र मुग्ध सा कर देते हैं। जंगली फूलों की घटा देखते ही बनती है। इस सारे वातावरण की कलमी तस्वीर उतारना और वह भी पूरी की पूरी, आज तक सम्भव नहीं हो पाया है। इस वातावरण या सौन्दर्य का प्रभाव यहां के जनमानस पर भी खूब गहरा पड़ा है। किसी भी कलाकार का प्रेरणा स्रोत, उसका परिवेश ही होता है इस का सुबूत है हिमाचल का शिल्प। हिमाचल प्रदेश के शिल्पियों की पहचान अब हिमाचल प्रदेश की भौगोलिक सीमाओं को लांघ कर समन्दर पार तक पहुंच चुकी है। विश्व की शायद ही कोई आर्ट गैलरी या संग्राहलय ऐसा होगा जिसमें यहां बनी वस्तुएँ न रखी गई हों। इन वस्तुओं में चाहे लकड़ी के बर्तन हों, या सोने चांदी के गहने या सूई धागे का कमाल, अथवा पारटी। सब कुछ कला मर्मज्ञों के लिए बड़े महत्व के रहे हैं। बारह जिलों का यह पहाड़ी प्रदेश, अपने शिल्प के लिए पूरे विश्व और पूरे देश में चर्चित होता रहा है और होता रहेगा।

कुल्लु या किन्नौरी टोपी, तो आज हर हिमाचली की पहचान बन कर रह गई है। जनजातीय क्षेत्र, पांगी, किन्नौर, लाहुल-स्पीती में, तैयार होने वाली जोजियां, मफलर, छुब्ब तो अब विभिन्न एम्पोरियमों की शोभा बढ़ा रहे हैं। गेहूं अथवा जौं के तिनकों-तनों से बनी शलें न सिर्फ अपनी बनावट में ही कलात्मक हैं, बल्कि अपने गुणों ओर अपनी विशेषताओं के लिए भी मशहूर हैं। गहनों में नत्थ, बुलाक, लौंग, मान टिक्का, तबीत, चन्द्रहार, डोडमाला, कंगणु, टोके, बंगें, और झुमके वाले बटन, यहा किसी भी महिला के सौन्दर्य को निखार लाने में सक्षम हैं। वहीं चोला, डोरा, गद्दी टोप, चपकण, और सुथ्थण, पहन कर काटें भी पुरुष, जाने अनजाने में न जाने कितनी नायिकाओं के सपनों का राजकुमार बन बैठते हैं।

घरेलु इस्तेमाल के लिए, कांसे के थाल, चान्दी की कटोरियां और ताम्बे के लोटे, न सिर्फ देखने में ही आकर्षक होते है बल्कि उनका उपयोग सेहत के लिए भी जरुरी होता है। बैठने के लिए चट्टाईयां अक्सर बकरे के बालों से बनाई जाती हैं जिन्हें थोबियां कहा जाता है। चटाईयों पर बिछाने

के लिए ऊन के बने नमदे अपनी फुलकारी के लिए मशहूर है। ओढ़ने बिछौने के लिए गुदमे और खारचे ऐसे कि बस पूछिए ही मत। कितना ही भारी हिमपात क्यों न हो, एक बार गुदमा का खारचा लपेट कर सो जाने पर, क्या मजाल के जानलेवा ठण्डी हवाओं की कि आप को छू भी सके।

कोट की पट्टियां या पट्टू, आर्जा घड़ाघड़ बिकते हैं। रंग बिरंगे ऊनी कम्बल, किसी भी बिस्तर की शोभा या जीनत बन जाते हैं।

धूम्रपान, मानव की कमजोरियों में से एक है। पुराने जमाने में धूम्रपान के लिए हुक्के का प्रचलन आम था। हुक्के का बिरादरी में एक खास स्थान रहा है। प्रदेश वासियों की नैसर्गिक प्रवृति कलात्मक रही है। इस प्रवृति से हुक्का भी अछूता नहीं रहा है। चिलम, बजमा-नड़ी और कली, बनाने में शिल्पियों ने अपनी कलात्मक प्रवृति का दिल खोल कर प्रयोग किया है। मिट्टी की चिलमें, या टोपियां जिनमें तम्बाकू भरा जाता है, इनके बनाने में यहां के कलाकारों ने न सिर्फ पारस्पारिक मान्याताओं को ही बना रखा, बल्कि समय के अनुसार इस में तबदीलियां भी की। फूल पत्तियां या बेलें तो बनाई ही बनाई, साथ ही चिलमों को टूटने से बचाए रखने के लिए उनके गिर्द लोहे की बारीक जाली भी बुन दी गई। वर्षों तक या रही, कि जब तक लापरवाही नहीं हुई तब तक चिलम सही सलामत रहती है। बजमे में भांत-भांत के पेच-खम दे कर उसे सजाया संवारा। आकारों को छोटा बड़ा किया। रही कली की बात तो कभी कांसे की कली बनी, तो कभी अष्ट धातु की, कभी पीतल की, तो कभी मिट्टी या बांस की ही। कली को देख कर कभी किसी मयूर का आभास होता है तो कभी किसी दीवर का, कभी किसी पहाड़ी पक्षी का, तो कभी किसी 'परी' का। नै या नड़ी की सजावट तो चांदी की बारीक, नफीर जड़त, को मुंह बोली तस्वीर हो उठती है।

घड़ा या घड़ोली न सिर्फ लोग गीतों का सिंगार बन गए हैं, बल्कि सुघड़-हाथों ने इसके आकार प्रथम को बड़ी नफासत से सजाया संवारा है। घड़े या घड़ोलियों की बनावट देख कर, प्यास न भी हो, तो भी दो घूंट पानी पीने का मन हो आता है। बरबस लोकगीत की पंक्तियां गुन गुनाने का मन हो आया है। घड़े पर घड़े तेरे घड़े पर गागर— गागरी दा मुल्ल कुणी पाणा छोरिए—! घड़े के जिगर के साथ साथ गागर का जिगर न किया जाए तो हिमाचली शिल्प की इस विद्या का जिक्र अधुरा ही रह जाएगा। साहित्य में 'गागरी' का स्थान सभी साहित्य प्रेमियों को ज्ञात है। साहित्य जगत की वही गागरी, हिमाचल की गागर है। कलात्मक गागरें और गागरु हिमाचल लोक शिल्प की मुंह बोली तस्वीरें हैं बल्कि सच तो यह है कि उस कहावत से चरितार्थ करती हैं— "जादू वो जो सर चढ़ बोले"

इस सारी चर्चा में अगर सूई धागे के कमाल की बात न की जाए तो बात का आनन्द अधूरा ही रह जाएगा। नीरस हो जाएगी सारी चर्चा। मेरी मुराद यहां चम्बा रुमाल या चम्बा कढ़ाई से है। चम्बा रूमाल, सात समन्दर पार भी उतने ही लोकप्रिय हैं जितने काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक

या गुजरात से लेकर असम तक। सबसे पहली विशेषता जो लोक शिल्प की इस विद्या में है वह है—"चित भी वैसा और पट्ट भी वैसा" इस कढ़ाई को यदि सूई धागों से बनाए चित्र कहा जाए तो गलत न होगा। विषय वस्तु के लिहाज से भी यह रूमाल यानि चम्बा रूमाल पहाड़ी चित्र शैली का कमाल है। राम चरित, कृष्ण चरित, शिव महिमा इस कढ़ाई को प्रमुख विषय वस्तु तो है ही, इसके अलावा राग माला, या नायिका भेद, भाव मंत्रिमा को आज सूई की नोक या रंगीन धागों से हमेशा-हमेशा के लिए रूमाल पर उतार कर रख देना हिमाचली शिल्प का अपना ही कमाल है। जिसकी व्याख्या करना अगर असम्भव नहीं तो कठिन जरूर है। 'गिरा अनयन, नयन बिनु बानी' वाली बात है इन रूमालों को देखना।

ग्रामीण जन मानस में "छतरी और सोठी" यानी "छाता और लाठी" का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। भोजपत्र के छाते, और प्राकृतिक रूप से—कलात्मक सूरत के लिए लाठियों को और छातों के 'हत्थों', को और अधिक संजाना संवारना, लोक कलाकारों को बहुत प्रिय रहा है। छातों या लाठियों पर बारीक नक्काशी का काम तो किया ही जाता है साथ ही साथ उन में छोटे घुंघरुओं वाले छल्ले कुछ इस अन्दाज से पिरोए जाते हैं जैसे किसी स्वच्छन्द विचार को किसी कविता के छन्दों में बांध दिया गया हो।

उन दिनों की बात कह रहा हूं जब सीलिंग या टेबल फैन्ज, अथवा रूम हीटर, जैसी चीजें आम आदमी की पहुंच से बाहर थे— बहुत दूर। तब लोक शिल्पियों द्वारा हत्थ पंखों—यानि पक्खियों को भी सलमे सितारों से जड़ा जाता था। आज भी वह पक्खियां बनती हैं लेकिन उन्हें सिर्फ सजावट के लिए सहेज कर रखा जाता है। उन पंखों से भुलाई दुलाई हवा का आनन्द तो वही जानते हैं जिन्होंने उसे महसूस किया है कभी गए वक्तों में! शिल्पियों द्वारा रही आंच या तपिश की दांत तो लोक बनाई गई जमीन दाज "गीठियों" में जब उपले जला दिए जाते हैं तो घन्टों तक धीमी धीमी आंच का आनन्द आज भले ही अतीत के गर्त में जा छुपा हो—लेकिन आनन्द आप में भी ऐसी अनुभूति है जिस की व्याख्या सम्भव ही यहां हो पाई है। गुंगे के गुड़ जैसी है उसकी व्याख्या!

विचित्र पौराणिक सांस्कृतिक मन्दिर : शारदा

—रजनी बाला धींगड़ा

पठानकोट से ९२ कि० मी० दूर, ३६९२ जनसंख्या वाले नगरोटा-बगवां का क्षेत्रफल तीन वर्ग कि० मी० है यह ८८०.८७ मीटर की ऊंचाई पर स्थित है। यहां अनेक देवी-देवताओं लक्ष्मी-नारायण, वाल्मीकि, दत्तात्रैय, सन्तोषी माता, हनुमान, नारदा-शारदा मन्दिर की अपनी विशेषता हे जिसका संक्षिप्त विवरण यूं है : —

नारदा-शारदा मन्दिर ३५० वर्ष पुराना है। इसकी स्थापना स्वामि सरुपानन्द ने की थी। वह अपने आपको शंकराचार्य कहते थे। इस कारण उनका नाम स्वामी सरुपानन्द शंकराचार्य पड़ गया।

नारदा से अभिप्राय: हैं लक्ष्मी और शारदा से अभिप्राय: है सरस्वती। यह मन्दिर लक्ष्मी तथा सरस्वती का है। इस मन्दिर का नाम नारदा-शारदा क्यों पड़ा, इसका कारण बताते हुए लक्ष्मी-नारायण मन्दिर के पुजारी श्री भवानी प्रसाद जी कहते हैं कि, "एक वार स्वामी शंकराचार्य भ्रमण करते हुए यहां आए और इस स्थान पर ठहरे। एक दिन एक गरीब व्यक्ति उनके पास आया और हाथ जोड़कर स्वामा जी से बोला, "महात्मा जी ! मुझे धन और सन्तान दो।" स्वामी जी बोले "बेटा ! में तो केवल ईश्वर का तुच्छ सेवक हूं। मेरे पास न तो लक्ष्मी सिद्धि है और न वाक् (सरस्वती) सिद्धि है कि जो कुछ कहूंगा वह पूरा हो जाएगा। स्वामी जी की बात सुनकर वह आदमी कहने लगा, "आप कैसे साधु हैं ? साधुओं के पास तो ये दोनों चीजें अवश्य होती हैं।" उसके ऐसा कहने पर स्वामी जी के दिल को बड़ा दु:ख हुआ और वह अपने आप को लज्जित अनुभव करने लगे। तब उन्होंने यहां बैठकर लक्ष्मी और सरस्वती की सिद्धि प्राप्त करने के लिए कठोर तपस्या की। एक बहुत बड़े आकार के पत्थर को मूर्तियां मान कर उस स्थान की प्राण-प्रतिष्ठा की, फिर देवियों का आह्वान किया। उन की तपस्या से प्रसन्न होकर दोनों देवियों ने उन्हें साक्षात् दर्शन देकर वरदान दिए।" वरदान प्राप्त करने के बाद उन्होंने इस मन्दिर का का नाम नारदा-शारदा रखा। जब लोगों को उनके सिद्ध होने का पता चला तो वे उनसे तरह-तरह के वर मांगने के लिए आने लगे। इससे तंग आकर वह एक दिन आधी रात के समय अज्ञात स्थान को चले गए। उनके जाने के बाद उनके शिष्यों ने उस पत्थर के आगे दीवार बनवा दी व उसके आगे पड़े हुए पत्थर पर सिन्धूर से मूर्तियां बना दीं। उस पत्थर को पहाड़ों में 'टोल' कहते हैं।

ये मूर्तियां तीन से चार फुट लम्बी हैं। इनकी आंखें चांदी की हैं। ग्रीष्म ऋतु की चिलचिलाती धूप हो या सावन मास की मूसलाधार वर्षा, सिन्धूर से बनी मूर्तियों का रंग खराब नहीं होता। इस मन्दिर की विशेष बात यह है कि इसकी छत नहीं है। ऐसा कहा जाता है कि जब स्वामी शंकराचार्य ने तप किया तो उनके द्वारा जलाई जाने वाली ज्योति बहुत ऊपर तक चली जाती थी तथा जब उन्हें देवियों के दर्शन हुए तो उन्हें यूं लगा कि देवियां ऊपर से उतरी है। इसलिए उन्होंने मन्दिर की छत नहीं डलवाई और अपने शिष्यों को भी उस पर छत डलवाने से मना कर दिया। तब से इस मन्दिर पर छत नहीं डाली गई। किन्तु यहां के लोगों मे यह अन्धविश्वास पाया जाता है कि जो भी इस मन्दिर की छत डालता है या डलवाता है उसका सर्वनाश हो जाता है। लेकिन यह बात बिल्कुल निराधार है।

प्राचीन काल में यहां वैशाख की सक्रान्ति व आश्विन मास की सक्रान्ति को लोग एकत्रित हो कर एक दूसरे को पत्थर मारते थे जिससे कई लोग घायल हो जाते थे और कई लोगों की मृत्यु हो जाती थी। एक बार बोरन नामक अंग्रेज यहां आया। किसी कारण उसकी पदावनति हो गई थी। यहां आकर उसने लोगों से इसका महत्व पूछा। लोगों के यह बताने पर कि मन वांछित फल प्राप्त होते हैं तो उसने माता नारदा-शारदा के आगे यह विनती की कि यदि तीन मास के अन्दर-अन्दर इसकी उन्नति हो जाएगी तो वह पत्थर मारने के कार्य बन्द करवा कर मेले लगवाने आरम्भ करेगा। माता की कृपा से सात दिन के अन्दर ही उसकी पदोन्नति हो गई। अपने वचन के अनुसार मेले लगवाने शुरु किए जो कि अब भी चैत्र मास की ११, १२, १३, १४ तारीख को लगते हैं। मेला देखने के लिए हजारों की संख्या में लोग दूर-दूर से आते हैं। कुश्तियां भी होती हैं। चौथे दिन जो मेला लगता है उसे 'पत्रलचट' या 'छोड़छाड़' अथवा उजड़ता मेला कहते हैं जिससे अभिप्राय मेले की समाप्ति से है।

पहले से इस मन्दिर का काफी विकास हुआ। इसके बिल्कुल सामने शिवजी के मन्दिर के आगे शिवजी का नन्दीगण खड़ा है। शिवजी में मन्दिर के बिल्कुल साथ ही एक बहुत बड़े पत्थर पर सिन्धूर से हनुमाए और भैरों की मूर्तियां बना दी गई हैं। यह पत्थर देखने मे पर्वत की तरह लगता है। ऊपर से एकदम नुकीला है। लोग यहां मनवांछित फल प्राप्त करने के लिए आते हैं तथा मन्नतें मानते हैं। जब उनकी मन्नत पूरी हो जाती है तो वे लोगों के साथ एकत्रित होकर झण्डा लेकर घर-घर जाते हैं वहां से एक दूसरे पर रंग डालते हुए मन्दिर मे झण्डा चढ़ाकर होली का त्योहार समाप्त करते हैं।

खेद का विषय है कि इतना महत्वपूर्ण स्थान उपेक्षित पड़ा है। सरकार को चाहिए कि वह इसके विकास कार्य में सहयोग दे।

पाल दवा खाना
नगरोटा—बगवां
जिला कांगड़ा (हि० प्र०) १७६ ०४७

चम्बा चित्रकारी : एक पहचान

नरेन्द्र अरुण

चम्पावती के नाम से जुड़ा हुआ चम्बा नगर अपनी मनोहारी प्राकृतिक सुषमा के मध्य मुस्कराता हुआ आज भी गणतन्त्रता के उन्मुक्त वातावरण में आकर्षण का केन्द्र है। उत्तर-पश्चिमी हिमालय की सुरम्य घाटियों में चम्बा जम्मू काश्मीर के उत्तर-पश्चिम में स्थित है। इसका पूर्वी भाग लाहुल और दक्षिणी भाग कांगड़ा जनपद से अपनी सीमा रेखा स्वीकारता है। मुख्य हिमालय पर्वत, पांगी एवं धौलाधार की तीन विस्तृत पर्वत श्रृंखलाओं के मन्त्रमुग्ध सौन्दर्य को अपने में समेटा हुआ चम्बा जनपद आज भी अपनी सांस्कृतिक परम्परा को संजोए हुए है। चनाव, रावी और व्यास की उन्मुक्त प्रवाहित होने वाली नदियों के सम गम ने निश्चित ही चम्बा के सौन्दर्य को निखारा है। छठी शताब्दी से लेकर १९वीं शताब्दी १९४७ तक चम्बा जनपद पर विभिन्न राजाओं का प्रशासन अस्तित्व में आया। चम्बा से पूर्व कथित जनपद की राजधानी ब्रह्मपुर, वर्तमान भरमौर की सं० ६८० के आसपास मरू-वर्मन द्वारा स्थापित की गई थी। आज भी वहां रावी की गोद में अनेकों धार्मिक स्थान अपने अपने आख्यानों को अपने आंचल में संजोए गुमसुम पाश्चात्य सभ्यता की खिल्ली उड़ा रहे हैं। ब्रह्मपुर वर्तमान भरमौर के पश्चात् ९वीं शताब्दी में राजा साहल वर्मन द्वारा राजधानी को चम्बा स्थानान्तरित किया गया और अपनी बिटिया राजकुमारी चम्पावती के नाम से चम्बा नगर को अमरत्व प्रदान किया गया। साहिल वर्मन द्वारा बनाया गया लक्ष्मी नारायण का मन्दिर आज भी चम्बा जनपद की अमूल्य सांस्कृति धरोहर है। मन्दिर में अंकुरित मूर्तिकला के अवलोकन से ऐसा आभास होता है मानो पत्थर में ढाले गए जीवित प्राण बोलते क्यों नहीं क्या पिछली कई सदियों में मूक हैं ?

चम्बा जनपद के अधिकारी भरमौरी हैं जिन्हें गादी जनपद की संज्ञा से विभूषित करना यहां अतिशियोक्ति नहीं। सरलता की दुधिया मुस्कान में नहाए हुए गादी जनपद के छले-छले से अपरिमित सौन्दर्य को देखकर कौन ठगा-ठगा नहीं रह जाता। यही कारण है कि अधिकांश चम्बा में स्थित चित्र-कारों को गद्दन-स्त्रियों की रूप लावण्यता से विमोहित होकर अपनी तूलिका उठाई और विभिन्न रंगों में अमुक देव-कन्याओं के अगाध सौन्दर्य को रंगों की विभिन्न लकीरों में कैद कर लिया। चम्बा के अधिकांश चित्रों के प्रत्यक्ष दर्शन से आप स्वंय महसूस कर लेंगे कि मेरा लेख मात्र भावुकता के पगों से नहीं अपितु यथार्थ की पुष्टि करता है। विश्वासनीय है कि मुगल सम्राट शाहजहां के शासनकाल में जब चम्बा का राजा पृथ्वी सिंह दिल्ली दरबार में उपस्थित हुआ तो कहते हैं कि उनके यन्त्र-मुग्ध सौन्दर्य ने दिल्ली वालों का

tharahkardu.in

दिल जीत लिया और यहां तक शाही खानदान की पर्दे वाली बेगमों ने भी राजा पृथ्वी सिंह की रूप लावण्यता का मधुपान करना चाहा। अभिप्राय: यह है कि मनमोहक सौन्दर्य की प्रेरणा ही यहां के चित्रकारों का प्रतिपाद्य वस्तु रही। यह दूसरी बात है कि उनके चित्रों में विभिन्न शैलियों के अन्तर्गत चम्बा जनपद की एकरूपता पौराणिक आख्यानों का परिवेश लेकर उभरी। छठी शताब्दी से लेकर विभिन्न चितेरे विभिन्न शैलियों में अपनी चित्रकला का प्रदर्शन राजाओं-महाराजाओं के संरक्षण में करते रहे। कालान्तर में जब तक चित्रकारी के मूल्यांकन आधुनिक संदर्भ में स्वीकार करने की बात आई तब तक चित्रकला की विभिन्न शैलियां आपस में इतनी घुलमिल गईं कि उनको एक दूसरे से अलग करना या अलग-थलग। उनकी पहचान निकालना सर्वसाधारण चित्रकला पार्खी के लिए कठिन ही नहीं परन्तु असम्भव भी हो गया। समय के व्यवधान ने राजाओं के संरक्षण में पनपी हुई चित्रकला का मानो गला घोंट दिया। पहाड़ी राजाओं के संरक्षण में बने अधिकांश चित्र या तो दहेजादि के साथ अन्य प्रान्तों में चले गये अथवा समय ने उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। जहां तक अमुक चित्रों के संरक्षण का प्रश्न है हम यहां राजा भूरि सिंह द्वारा किए गए प्रयत्नों की भूरी-भूरी सराहना किए बिना नहीं रह सकते। १९०८ में भूरि सिंह म्यूजियम की स्थापना हुई और सभी अमूल्य चित्र जो उस समय प्राप्त थे भूरि सिंह म्यूजियम में सुरक्षित किए गए। डॉ० वोगल के द्वारा चम्बा से बाहर कांगड़ा जनपद से भी चित्रों को क्रय करके भूरि सिंह म्यूजियम में लाया गया। कुमार स्वामी जैसे आलोचकों ने 'राजपूत चित्रकारी' पर विषद अध्ययन के पश्चात् भूरि सिंह म्यूजियम में संगृहीत चित्रों के सम्बन्ध में कहा कि ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि सभी उपलब्ध चित्र चम्बा चित्रकारी की मूल देन है; क्योंकि इनके अधिकांश डोगरी प्रभाव परिलक्षित होता है अथवा अधिकांश चित्र कांगड़ा चित्र शैली के हैं स्वभाविक ही है कि कांगड़ा जनपद से जुटाए गए चित्र कांगड़ा शैली के होंगे। चित्रकारी के सशक्त हस्ताक्षर श्री ओ० सी० गांगोली ने अपनी पुस्तक, 'मास्टरपीसिस ऑफ राजपूत पेन्टिंगज़' में गुलेर के अधिकांश ऐसे चित्रों का वर्णन किया है जो चम्बा शैली के चित्र हैं। यहां प्रकाश चंद राजा गुलेर का चित्र भी चम्बा शैली का है। चम्बा चित्रकला के उत्कृष्ट पार्खी तथा चित्रकला के प्रबुद्ध विद्वान डब्लयू जी आर्चर ने अपनी पुस्तक 'इण्डियन पेन्टिगज़ इन द पंजाब हिल्ज़' में, चम्बा नरेश राज सिंह की जम्मू पर विजय, (ए० डी० १७७५), बसोली (ए० डी० १७८२) तथा किरतबाड़ (ए० डी० १७८६) के बने चित्रों के माध्यम से स्पष्ट करना चाहा है कि सम्भवत: गुलेर के चित्रकार चम्बा नरेशों के संरक्षण में विजयोपरांत गए और चम्बा में रहते हुए उन्होंने गुलेर-शैली के चित्रों का निर्माण किया। चम्बा-शैली एवं गुलेर-शैली के चित्रकारों का एक दूसरे की मूल शैलियों पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। चम्बा शैली के मूल चित्रों पर उठाए गए प्रश्नवाचक चिन्ह को हरमन गोटेज़ ने मिटाने का प्रयत्न किया और स्वीकार किया कि चम्बा शैली के चित्रों का काल सोहलवीं-सताहरवीं शताब्दी रहा होगा। अधूरी जानकारी और तथ्यों के न मिलने के कारण चित्रकारी के प्रबुद्ध विद्वानों ने चम्बा शैली पर अपने-अपने ढंग से टिका टिप्पणी की परन्तु चित्रकारी के सशक्त हस्ताक्षर कॉर्ल खण्डेल वाल ने पूर्व स्थापित चम्बा शैली से सम्बद्ध धारणाओं को कुण्ठित किया और एक कटु सत्य सामने रखने का प्रयास किया। उन्होंने अपनी पुस्तक पहाड़ी मीनियेचर पेन्टिंगज़ में स्पष्ट किया। राजा पृथ्वी सिंह १६४१-६४ के शासन काल में चम्बा चित्र शैली का श्री गणेश नहीं हुआ अपितु उस समय के ऐतिहासिक जयसिंह शाक्त सिंह आदि राजाओं के चित्र उग्र सिंह १७२०-३५ के समय बनाए गए।

भूरि सिंह म्यूज़ियम तथा अन्य प्रसाधनों से उपलब्ध चम्बा-चित्रों को निम्नलिखित भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१. बसौली शैली (ए० डी० १७२०-६४)
२. गुलेर-चम्बा स्टाईल (ए० डी० १७७०-१८०८)
३. सिक्ख शैली (ए० डी० १८२०-५०)
४. विविधा शैली (१८५० से १९वीं शताब्दी तक)

आज भी भूरि सिंह म्यूज़ियम में पृथ्वी सिंह (ए० डी० १६४१-६४), चत्तर सिंह (ए० डी० १६६४-९०) तथा उमेन सिंह (ए० डी० १७४८-६४) के चित्र दर्शकों को प्रभावित किए बिना नहीं रह सकते।

(क) बसौली शैली :

अठाहरवीं शताब्दी में हमें चम्बा जनपद के भीतर बसौली-शैली के चित्र उपलब्ध होते हैं। बसौली शैली में बताया गया महाराजा उग्र सिंह का चित्र वह ही आकर्षक है। प्रबुद्ध चित्रकार एवं आलोचक आर्कट इसे जम्मू स्टाईल का चित्र स्वीकार करता है। इतिहास साक्षी है कि ए० डी० १७३५ में राजा उग्र सिंह द्वारा दलेल सिंह का राज्य पद से पदच्युत करने के लिए चम्बा शहर में षडयन्त्र के फलस्वरूप आग लगानी पड़ी थी। 'गोटज़' का विश्वास है कि अधिकांश बसौली शैली के चित्र निश्चित रूप से अग्नि काण्ड की भेंट हुए।

बसौली स्टाईल के अधिकांश चित्रों का प्रति पाद्य 'भागवत पुराण' के कथानक हैं। इन चित्रों पर चम्बा जनपद का अत्याधिक प्रभाव देखने को मिलता है। इन चित्रों में वृक्षों का चित्रण, आकाश का रंग, भूमि के निरूपण अपनी अलग-थलग रंग योजना हैं। पशुओं को बसौली स्टाईल में प्रस्तुत किया गया है। ग्राम्य जन जीवन की झांकी पर भी बसौली शैली का प्रभाव परिलक्षित है। अमुक अन्तराल में बने चित्रों के बोर्डर पर भी बसौली शैली का रग है। विश्बसनीय है कि इन चित्रों में पुरुषों तथा स्त्रियों के मुखारविन्द को केशों की निर्दिष्ट स्थिति में स्पष्ट करके चेहरे की सुन्दरता को और भी आकर्षक बनाया गया है। बालों के निर्दिष्ट दिशा के वनाने में मुगल चित्र कारी का प्रभाव भी देखने को मिलता है। प्रबुद्ध चित्रकार गोटेज़ तभी तो इन्हें मुगल-बसौली स्टाईल के नाम से स्वीकारता है।

इन चित्रों में बादलों तथा जल के लिए प्रयुक्त रंगों की अपनी ही मूल कलात्मकता हैं जो अन्य शैलियों में उपलब्ध नहीं होती। बसौली स्टाईल चित्रों की कड़ी में एक चित्र का उल्लेख करना यहां आवश्यक है। यह चित्र कृष्ण द्वारा उग्रसेन को राजा बनाए जाने के समय का है। डॉ० विश्व चंद ओहरी के अनुसार अमुक बसौली शैली के चित्र को एक तरखान 'लोहरु' ने राजा उमेन सिंह के छोटे भाई मियां शमशेर सिंह के लिए बनाया था और चित्र का रचना काल फरवरी ९, १७५८ है। उपरोक्त आंशिक

विवेचन से हमें स्वीकार कर लेना चाहिए बसौली स्टाईल की चित्रकला उग्रसेन (ए० डी० १७२५) से लेकर उमेद सिंह (ए० डी० १७६४) तक विकसित रही। भागवत पुराण चित्र श्रृंखला शैली के अतिरिक्त रामायण के कथानकों को भी बसौली कलम में चित्रबद्ध किया गया।

(ख) गुलेर-चम्बा शैली

चम्बा-गुलेर स्टाईल की चित्रकारी अभी तक भी विवाद का विषय बना हुआ है ए० डी० १७७० से १८०८ तक ऐसा विश्वास किया जाता है कि कांगड़ा चित्र शैली का केन्द्र गुलेर था। हरिपुर गुलेर में चित्रकार अपना अभ्यास प्राप्त करते थे और फिर विभिन्न जनपदों में अजीविका के लिए चले जाते थे। राजा दिलीप के समय की लिखित दिलीप रंजीनी ए० डी० १७०३ से उपरोक्त तथ्य स्पष्ट हो जाता है। यहां तक कि राजा दिलीप सिंह का चित्र भी आधी मुगल तथा आधी गुलेर शैली की उपज है। गुलेर चम्बा की नई शैली को जन्म देने वाले अमुक चितेरे कौन होंगे ? कहां से आए होंगे परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि कांगड़ा शैली के अधिकांश चित्रों को एक परिवार विशेष ने बनाया जो पण्डित 'सेओ' के उत्तराधिकारी स्वीकार किए जाते हैं जिनमें नानक तथा नयन-सुख के नाम विशेषकर उल्लेखनीय हैं। अमुक चित्रकारों के उत्तराधिकारी विभिन्न राज्यों में चले गये। नयन सुख का सुपुत्र चित्रकार निक्का राज सिंह के शासन काल में तालुका रिहलू के गांव राजोल में आकर बस गया। उस समय राजोल गांव पर चम्बा नरेशों का अधिकार था। गोस्वामी की रिपोर्ट के अनुसार निक्का गुलेर से आया था और यह तथ्य ऐतिहासिक है। गुलेर-चम्बा शैली का एक चित्र एन० सी० मेहता द्वारा एकत्रित चित्रों में जो आजकल अहमदाबाद के गुजरात म्यूजिम में है प्रदर्शित करता है कि राज सिंह दरबार में नृत्य देखने में व्यस्त हैं खण्डेलवाल के अनुसार यह चित्र राम लाल चित्रकार का बनाया हुआ है। स्मरणीय है कि राम लाल नयन सुख का चौथा बेटा था। विचित्र सामजस्य है कि चित्रकार निक्का तथा राम लाल राज सिंह के शासन काल में रहे और राज सिंह का गुलेर के राजाओं से सांस्कृतिक सम्बन्ध होने के कारण गुलेर-चम्बा शैली की चित्रकला राजा राज सिंह के संरक्षण में फलती-फूलती रही। गुलेर-चम्बा शैली के अन्तर्गत चित्रकारी का वर्णन करते हुए हंगरी के चित्रकार **'उजफेतवी'** ने भी स्वीकार किया है कि राजा राज सिंह और भद्रवाह की रानी नागिनु का राजगढ़ उद्यान का चित्र गुलेर-चम्बा शैली का अनूठा चित्र है। जहां तक चम्बा रूमाल और उसके ऊपर चित्रकारी का प्रश्न है उसका उद्भव भी राजा राज सिंह के शासन काल में ही हुआ। प्रायः एक रूमाल पर राजा राज सिंह के समय जीत सिंह का जम्मू की राजकुमारी से विवाह का चित्रण है।

राजा राज सिंह के समय गुलेर-चम्बा शैली का जो विकास सम्भव हुआ उसके आगे बढ़ाने में राज सिंह के उत्तराधिकारी जीत सिंह का हाथ रहा। जीत सिंह ने तद्युगीन चित्रकारों—राम लाल, छज्जु तथा हारक्खू को अत्याधिक प्रोत्साहन दिया। इस समय चित्रकारों ने केशवदास की रसिक प्रिय तथा कवि प्रिय से बारह मासा वर्णन, विहारी सतसदी अनिरुद्ध तथा उषा के प्रेमाख्यानों के अपनी चित्रकारी की विषय वस्तु का प्रति पाद्य चुना। राम लाल द्वारा चित्रित उषा-अनिरुद्ध के चित्रों को आज भी भूरि सिंह म्यूज़ियम चम्बा तथा पंजाब म्यूज़ियम चण्डीगढ़ में देखा जा सकता है। खण्डेलवाल के अनुसार उषा-

अनिरुद्ध चित्र शृंखला दिल्ली के म्यूजियम में भी उपलब्ध है और उन चित्रों का चितेरा भी चम्बा निवासी राम लाल है।

(ग) सिक्ख शैली :

बसोली तथा गुलेरी-चम्बा शैली के पश्चात् चम्बा चित्रकला पर सिक्ख शैली का प्रभाव भी देखा जा सकता है। जीत सिंह की मृत्यु के पश्चात् चढ़त सिंह जब सिंहासनारूढ़ हुआ उस समय वह केवल ६ वर्ष का था। राज्यभार इस समय रानी शारदा पर था जो नत्थु वजीर की सहायता से कुशल प्रशासन चला रही थी। नत्थु वजीर कुशल प्रशासक, राजनीतिज्ञ एवं भुगतभोगी अनुभवशील व्यक्तित्व था। आज भी चम्बा जनपद के हृदय के मध्य नत्थु वजीर जीवित है। यह नत्थु वजीर की दूर-दर्शिता का परिणाम था कि लाहौर में राजा रणजीत सिंह के साथ उसके घनिष्ठ सम्बन्ध थे। स्वाभाविक था कि सिक्ख चित्रकारों की शैली का आदान-प्रदान इस समय हुआ परन्तु चढ़त सिंह के चित्र के अवलोकन से यह निष्कर्ष बड़ी सरलता से निकाला जा सकता है कि सिक्ख शैली के चित्रों मे कलाकार का जीवन्त स्वरूप न था और उनकी कला में किसी भी मूल्य पर वह बात न निखर सकी जो बसोली तथा गुलेर-चम्बा शैली के चित्रकारों में थी। चित्रकारी का इतिहास साक्षी है कि चढ़त सिंह के शासन काल में चम्बा चित्रकला विशेष रूप से विकसित नहीं हुई और दिन प्रतिदिन तदयुगीन कलाकारो की कला मे मृत प्रायः सी होती है। चढ़त सिंह के एकाध चित्र ही उत्कृष्ट बन पड़े हैं। एक चित्र मे मौनसून पवनों का परिवेश में दिखाया गया है जिसमें कि नभ में तिरते हुए बादलों के टुकड़ और उड़ती हुई सारस पक्षियों के खेत मालाएं मन मोहती हैं। इसी प्रकार एक अन्य चित्र में राजा चढ़त सिंह अपनी रानी के साथ उद्यान में मनमोहक संगीत सुन रहा है। उद्यान के प्रदर्शन मे रंग योजना तो देखते ही बनती है। विविधा शैलियों के अन्तर्गत चित्र-कला की भित्ति चित्रकला के नमूने भी रंग महल के भीतर चित्रकारों द्वारा उतारे गए इन भीति-चित्रों में कहीं तो अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ाई का चित्रण है तो कहीं महाभारत के पौराणिक आख्यानो को उभारा गया है। कहीं-कहीं चित्रों में ब्रिटिश साम्राज्य अधिकारियों को शिकार खेलते हुए दिखाया गया है। दिवार के भीत्ति चित्रों का प्रचलन राजा श्री सिंह के समय खूब रहा। चम्बा एक लोक कलाकार तारा सिंह ने रामायण के आख्यानों को भीति चित्र का माध्यम बनाया। इन भीति चित्रों से कांगड़ा-गुलेर तथा चम्बा शैली का सांझा प्रयोग था। चित्रकार तारा सिंह द्वारा बारहमासा चित्रों की शृंखला भी चित्रकला को अनूठी देन है। तारा सिंह की अमुक बारहमासा शृंखला को भूरि सिंह म्यूजियम मे देखा जा सकता है। ए० डी० १८७१ में तारा सिंह की मृत्यु के पश्चात् लगता है एक अध्याय ही चित्रकला का समाप्त हो गया। मण्डी के चित्रकार द्वारा बनाए गए श्री सिंह तथा गोपाल सिंह के तैल चित्र भी चित्रकला के इतिहास में अपना स्थान रखते हैं। अमुक तैल चित्रों को बनाने वाला चित्रकार नरोत्तम था।

चम्बा चित्र कमी एक पहचान को लेकर चित्रकला के सम्बन्ध में जो आंशिक जानकारी प्रस्तुत की गई है वह अधूरी है। अमुक लेख को पढ़कर मर्मज्ञ चित्रकारी मे रुचि रखने वाले कतिपय यह आशय

ग्रहण न करें कि मुझे चित्रकारी का ज्ञान ही नहीं आंशिक जानकारी तो मात्र पहचान के रूप में इसलिए प्रस्तुत भी है कि चित्रकला से प्रेम रखने वाले पाठकों का सम्मान और जिज्ञास बढ़े और नए आयामों के साथ चित्रकला के इतिहास में नया अध्याय जोड़े। चित्रकार तारा सिंह के पश्चात् आज तक चम्बा जनपद की विभिन्न शैलियों में जो चित्रों के क्षेत्र में कार्य सम्पन्न हो रहा है उसकी जानकारी की विवेचन अलग से किया जाना ही अपेक्षित है।

१३/१ बालूगंज
शिमला-१६१ ००५ (हि० प्र०)

नूरपुर-डमटाल के भित्तिचित्र

—डॉ० राम स्वरूप पल्लव

प्राचीन काल में नूरपुर एक छोटा सा सुदृढ़ राज्य था जो अब कांगड़ा की तहसील मात्र है। नूरपुर पठानकोट से २७ कि० मी० दूरी पर है। प्राचीन समय में इसका नाम धरमेडी था। अतीत में इसको विभिन्न नामों से पुकारा जाता रहा हैं जो दमहल, दमल, दहमरी, दममेरी, धमारी, धमेरी, धम्मीरी आदि हैं। 'तुजके जहाँगीरी' में इसको धमेरी कहा गया है। नूरपुर का वास्तविक संस्थापक देहली से आया तोमर राजपूत जैतपाल था। लगभग ६०० वर्ष पूर्व वह पठानकोट में बस गया, इसी कारण ये लोग पठानिया के नाम से पुकारे जाते हैं। लगभग ४०० वर्ष पूर्व राजा वासु ने अपने शासन काल में नूरपुर को अपनी राजधानी बनाया। धमेरी (नूरपुर) में राजा वासु ने एक विशाल दुर्ग बनवाया। यह दुर्ग अब खण्डहर मन्दिर है जिसका कुछ भाग अतीत की गाथा दोहराता है।

नूरपुर में भीत्तिचित्रों का उद्भव १७वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में राजा मान्धाता (१६६१-१७०० ई०) के शासन तक चलती रही। नूरपुर राज्य के अन्तर्गत फतेहपुर, नूरपुर और डमटाल प्रमुख केन्द्र रहे हैं। सर्वेक्षण सूत्रों के आधार हर यहां के भित्तिचित्रों का काल विभाजन निम्नवत किया जा सकता है।

१. सतरहवीं शताब्दी के भीत्तिचित्र, राजा मानधाता (१६६१-१७०० ई०) नृसिंह मन्दिर (फत्तेहपुर का ठाकुर द्वारा)

२. अट्ठाहरवीं शताब्दी के भीत्तिचित्र, राजा दयाधाता, (१७००-१७३५ ई०) ब्रजराज स्वामी मन्दिर (नूरपुर का ठाकुर द्वारा)

३. उन्नीसवीं शताब्दी के भीत्तिचित्र, राजा वीर सिंह, (१८०५-१८८६ ई०) गोपाल मन्दिर, डमटाल।

१. नृसिंह मन्दिर के भीत्तिचित्र :

पहाड़ी भीत्तिचित्रों में फतेहपुर प्राचीन एवं महत्वपूर्ण स्थल है। नूरपुर से २४ कि० मी० दूरी पर स्थित ११७ एकड़ क्षेत्रफल की आबादी लगभग ६०० की है। नूरपुर राज्य में भीत्ति चित्रण परम्परा

इतिहास यद्यपि काफी अस्पष्ट रहा है, किन्तु इतिहास में वर्णित एवं कला विद्वानों के आधार पर यह अवश्य प्रमाणित होता है कि राजा मान्धाता (१७००-३५ ई०) के शासन काल में फत्तेहपुर ठाकुर द्वारा में भीत्ति-चित्रों का निर्माण कराकर कलात्मक परम्परा को पोषित किया। कलाविदों के अनुसार यहां पर राजा मान्धाता का चित्र भी अकित था। यहां की सम्पूर्ण भीत्ति-चित्रकारी वर्तमान में नष्ट प्रायः हो गई है, लेकिन भीत्तियों पर क्षतिग्रस्त अवशेष अब भी दिखाई देते हैं। मन्दिर प्रवेश द्वार व बरामदे में आलेखन-नुमा खाने बने हैं। गर्भगृह मे भी सुन्दर चित्रो के अवशेश दिखाई पड़ते हैं। मन्दिर की वायीं ओर निचाई वाले भाग में अज्ञात महंतों की समाधियों के चारों ओर आलेखन, साज-सज्जा व पशु-पक्षियों की आकृतियां दिखाई पड़ती हैं।

२. ब्रजराज स्वामी मन्दिर :

पठानकोट से धर्मशाला मार्ग पर नूरपुर अपने अतीत के कलात्मक वैभव की याद दिलाता है। यहां पर बना प्राचीन दुर्ग है, जिसमें ब्रजराज स्वामी मन्दिर अपनी कृष्ण-मूर्ति व भीत्ति चित्रों के लिए प्रसिद्ध है। स्थानीय परम्परा के अनुसार वे राजा जगत सिंह (१६१६-१६६४ ई०) के आदेश से भीत्तिचित्र बनाए गये। कार्ल खण्डालावाला का मत है कि ये मित्तिचित्र राजा मान्धाता के शासन काल में बनाये गये। चित्रित विषयाकनों की दृष्टि से इनका काल अट्ठाहरवी शती का प्रथम भाग प्रतीत होता है। नूरपुर का यह मन्दिर दो मंजिली इमारत है। नीचे की मंजिल मे एक बड़ा बरामदा है जो पूरी तरह से मित्ति-चित्रों से सुसज्जित है। इसकी दिवारों पर धार्मिक विषयों के अतिरिक्त तत्कालीन सामाजिक जीवन, दरबारी वैभव, पुष्प सज्जा, पशु-पक्षियों का संयोजन किया गया।

व्रजराज स्वामी मन्दिर को नूपपुर राज्य के प्रमुख चित्रकार गोलू (बसोहली-कलाकार देवीदास का पुत्र) मे चित्रित किया जिसे राजा दयाधाता का राजसी संरक्षण प्राप्त हुआ। राजा दयाधाता कला-कार गोलू की अद्भूत कलात्मक योग्यता और उल्लेखनीय कार्यों से अत्याधिक प्रभावित हुआ। राजा ने गोलू से पुरस्कार मांगने को कहा। गोलू ने प्रार्थना की कि नूरपुर में उसके नाम से एक मेला लगाया जाए ताकि आने वाली पीढ़ियां उसे याद करे। आज वही मेला उसकी लोकप्रियता को दर्शाती है। प्रतिवर्ष चैत्र मास की नवरात्री मे गोलू अष्टमी को 'गोलू मेला' लगता है। उसके निवास स्थान को गोलू मौहल्ला कहा जाता है जो कलाकार के प्रति बड़ा सम्मान है।

प्रवेश द्वार के सामने की दीवार पर चित्रित विषयांकन ८५″ × ४२″ के आकार का है। प्रमुख विषय कुवलयापीड-बध है, जिसमे कंस की आज्ञा से कुवलयापीड नाम के हाथी को शराब पिलाकर श्री कृष्ण-बलराम को मारने के लिए अखाड़े के मुख्य द्वार के पास खड़ा कर रखा था। श्री कृष्ण और बलराम के घूंसों-थप्पड़ों से हाथी व्याकुल हो गया। सूंड पकड़कर श्री कृष्ण ने उसे पटक दिया और उसके दांत उखाड़ लिये। इस चित्र मे श्री कृष्ण बलराम मुख्य द्वार से हाथी के एक-एक दांत कंधे पर रखकर कंस अखाड़े की ओर बढ़ रहे हैं। चाणूर और मुष्टिक जो कंस के प्रमुख पहलवानों में थे, मुख्य द्वार के समीप उन्हें लड़ने के लिए ललकारा है। दोनों पहलवानों का आकार साधारण मानव की अपेक्षा अनुपात में बड़ा व बलिष्ठ रूप में चित्रित किया गया है।

बरामदे के वायीं ओर ४८" × ४६" इंच के आकार में तीन पंक्तियों को एक-दूसरे के ऊपर बनाया गया है। मुख्य विषय "कंस-अखाड़ा" है जिसमें कंस-वध को वर्णानात्मक पद्धति से दर्शाया है। चित्र के उपरोक्त भाग में दरबारियों, योद्धाओं, कवि एवं संगीतज्ञों को उनके पदानुसार बैठाया गया है। कुवलयापीड-वध के उपरान्त कृष्ण-बलराम, के साथ मुष्टिक का मल्लयुद्ध हुआ। असुर पहलवान श्री कृष्ण-बलराम को मार डालने का प्रयास करने लगे, तब श्री कृष्ण ने भुजा पकड़कर चाणुर को घुमाकर धराशायी कर कर दिया और उसके प्राण निकल गये। बलराम जी ने एक घूंसा मारकर मुष्टिक की कपाल क्रिया कर दी।

कंस-वध के ऊपर एक दृष्य रनिवास सम्बन्धित है, जिसमें अनेक सुन्दर स्त्रियां श्री कृष्ण-बलराम के स्वागतार्थ पूजा की थाली हाथ में लिए, प्रसन्नचित्त प्रतीक्षा कर रही हैं। एक द्वार पर खड़ी पांच स्त्रियों का समूह कृष्ण का महलों की ओर आना देख रही हैं। सुन्दर वस्त्राभूषणों युक्त स्त्रियों की भाव-पूर्ण मुद्रा विशेष दर्शनीय है। अर्ध पारदर्शी रंगों द्वारा संयोजित चित्र हल्के नीले, पीले, महरून, नारंगी, गहरे भूरे रंगों की आभा दर्शनीय है।

कस अखाड़ा विषयक चित्रों के ऊपर एक क्षैतिजाकार पट्टी १५७" लम्बी है जो पूरे बरामदे में तीन ओर बनाई गई है। इस पट्टी में अधिकांश चित्र १३" × ९" के आकार में बने हैं। क्षतिग्रस्त अवस्था में ये चित्र कांगड़ा लघुचित्रों के समीप है। बायें से दायीं तरफ सुन्दर रानियां लाल वस्त्र धारण किये महल से नीचे झांक रही हैं। इसके साथ के दृश्य में हाथी, अश्वारूढ़ सामन्त और पैदल सैनिक चित्रित किये गये हैं। एक छोटे-से चित्र में राजा मसनद के सहारे बैठा है। अगले दृश्य में रानी, राजा द्वारा भेजा गया उपहार पाकर प्रसन्न दिखाई देती हैं। इसी चित्र के उपरोक्त भाग में राजा साधु के समक्ष बैठकर उपदेश सुन रहा है। इसके बाद सुन्दर नायक-नायिकाओं और वीर योद्धाओं के चित्र अस्पष्ट रूप में दिखाई पड़ते हैं। बालकनी में बैठे राजा-रानी के समक्ष वीर योद्धा ढाल-तलवार, लम्बे भालों से सुसज्जित दिखाए गये हैं। तद्उपरान्त इसी लम्बे पैनल के अन्त में युगल प्रेमी को बालकनी के नीचे बैठे दिखाया है।

प्रवेश द्वार के सामने की दीवार पर लम्बी पट्टी के चित्रों में राजा पृथु अपने दो घोड़ों के रथ पर सवार अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित दिखाई देते हैं। राजा के हाथ में एक सुदृढ़ धनुष है, उसके चेहरे के भावों में आक्रोष है। सारथी घोड़ों को दौड़ाने के लिए चाबुक उठाये दर्शाया गया है। इससे आगे वन विहार करते राजा तथा यज्ञ का दृश्य है। यज्ञ के चित्र में दो पुरुष अग्नि-पूजा कर रहे हैं, जिसमें एक राजा और दूसरा आसन लगाये सिद्ध पुरुष दिखाई पड़ता है। यज्ञ में चार भुजाओं वाली देवी अग्नि से प्रकट हुई है। चित्र के ऊपरी भाग में "अग्नि" शब्द स्पष्ट दिखाई पड़ता है। अगले दो चित्रों में उपदेश देते हुए दिखाई दे रहे हैं। इन दोनों चित्रों का संयोजन व धरातलीय विभाजन एक सा है। बायीं ओर ऋषियों को उपदेश देते की मुद्रा में दर्शाया गया है। उनके समक्ष चार-चार शिष्यों को हाथ जोड़कर, श्रद्धा भक्ति भाव से गुरु दीक्षा लेते दिखाया गया है। चित्र के ऊपरी भाग में ऋषिदेव और वासुदेव लिखा है। मन-मोहक प्राकृतिक वातावरण पुष्पित वृक्षावलियां सुन्दर दृश्य उपस्थित करती है।

प्रवेश द्वार के सामने की दीवार के ठीक पीछे की ओर १०२'' लम्बाई का चित्राधार (पैनल) गहरा लाल (मेहरून) की पृष्टभूमि पर चित्रित किया गया है। बायीं ओर कुछ राजसी पुरुष हाथ जोड़े खड़े हैं। मध्य भाग में ''गर्भजून'' का दृश्य चित्रित है। गुफा में एक भक्त को दूसरा भक्त का हाथ पकड़कर बाहर निकाल रहा है। अन्य एक भक्त गुफा में प्रवेश हेतु उत्सुक दिखाई पड़ता है। इसके साथ ही अगले दृश्य में पूजा तथा हवन करते भक्त जनों को दर्शाया है। पृष्टभूमि में कृष्ण का मन्दिर है। जिसमें बांसुरी वादक कृष्ण की सुन्दर प्रतिमा रखी है। मन्दिर के आंगन में पीपल का वृक्ष, खजूर का ऊंचा पेड़ जिस पर पुष्पित लता दिखाई गयी है। अन्तिम भाग में श्रद्धालू भक्तों को जल के बर्तन हाथ में लिए पर्वत पर चढ़ते दिखाया गया है।

३. डमटाल का गोपाल मन्दिर :

पठानकोट के द० पूर्व में लगभग पांच किलोमीटर दूर बसा डमटाल आश्रम कांगड़ा जिले की नूरपुर तहसील स्थित है। महन्त लाल दास के अनुसार यह आश्रम भगवान् नारायण जी द्वारा बनवाया गया जो लगभग वि० संवत १५०० के समीप (१४४१ ई०) रामानन्द समप्रदाय के एक वैष्णव बैरागी थे। यह आश्रम शिवालिक की गोद में बसा है। इस आश्रम के मन्दिर को नूरपुर के राजा जगत सिंह ने १६४६ इ० में बनवाया। नीचे एक बड़ा बरामदा है जिसे 'कथा भवन' कहा जाता है। यह बरामदा १५ मीटर लम्बा और ६ मीटर चौड़ा है जिसमें भिन्न-भिन्न आकार के सुन्दर चित्र बने हैं। इन चित्रों को सुन्दर हाशियों से अलंकृत किया गया है। रेखाओं में प्रवाहपूर्ण लयात्मक का प्रयोग है। बरामदे की सम्पूर्ण दिवारों पर उर्ध्वाधर एवं लम्बवत् चित्रों के रंग अपनी मूल आभा खो चुके हैं। प्रयुक्त रंगों के अवशेषों में सामजस्यपूर्ण कोमल तानों की एकरूपता दर्शनीय है, जिनमें सफेद, हल्का हरा, आसमानी, नीला, काला, मेहरून, गुलाबी, गेरू (रैड ओकर), रामरज (यैलो ओकर) कालेपन युक्त हरा रंग प्रयोग हुए हैं।

कथा भवन के भीत्तिचित्र श्री मद्भागवत, रामायण व अन्य देवी-देवताओं के अतिरिक्त नायिका भेद, रागमाला के दृश्यों को भी प्रस्तुत करते हैं। शैव विषयों में शिव-परिवार को दिखाया है। कहीं श्री राम चन्द जी का विवाह रचाया जा रहा है तो कहीं श्री कृष्ण की रासलीला, गोवर्धन धारण, रुक्मिणी हरण, महाभारत के सारथी रूप में श्री कृष्ण को दर्शाया है। विष्णु-लक्ष्मी, सागर मन्थन का दृश्य परम्परागत अनुकरणीय प्रसंगों पर आधारित है। यहां चित्रित नारायण जी की चमत्कार कथा विशेष दर्शनीय है, जिसमें नारायण जी मुगल सम्राट जहांगीर के समक्ष विषपान कर रहे हैं।

गोपाल मन्दिर का ऊपरी कक्ष जिसे 'रंग महल' कहते हैं, भीत्तिचित्रों से सुसज्जित है। यह कक्ष उस समय चित्रित हुआ जब राजा बीर सिंह महाराजा रणजीत सिंह के आतंकित भय में छिपकर इस डमटाल आश्रम में शरण ली। इस रंग महल के अधिकांश चित्र रामायण पर आधारित हैं। राम विवाह से लेकर बनवास और राज्यभिषेक तक के दृष्यों में मर्यादा पुरुषोत्तम राम का दिव्य स्वरूप दर्शनीय है। अन्य देवी-देवताओं के चित्र भी चित्रित किये गये। सिक्ख कला शैली पर आधारित पुरुषाकृतियों में सुन्दर दाढ़िया तथा पगड़ियों में हीरे-मोती जड़े दिखाये हैं। सिक्ख धर्म गुरुओं तथा सत्संग से सम्बन्धित चित्रों के

अतिरिक्त एक चित्र में फिरंगी अपनी पत्नी के साथ बैठा हुआ दिखाया है। बग्घी को चार घोड़े खींच रहे हैं। इससे यह मालूम पड़ता है कि यहां सिक्खों के बाद अंग्रेजी शासन में भी कार्य होता रहा।

डमटाल भीत्ति चित्रों से सम्बन्धित तीन चित्रकार प्रकाश में आये हैं जिनमें—बिशनदास, नाथू राजानक और बैकुंठ नामक चितेरों का योगदान है। बिशनदास एक कुशल कलाकार था जिसका अधिकांश कार्य क्षतिग्रस्त हो गया है। नाथू राजानक ने रंगमहल की बाहरी दीवारों पर धार्मिक विषयों के अतिरिक्त विरहणी नायिकाओं को कुशलता पूर्वक पारदर्शी प्रभाव युक्त चित्रांकित किया है। एक चित्र का विषय विरहणी नायिका है जो अपने प्रिय की याद में काले मृग को दुलार रही है। बैकुण्ठ कलाकार ने भी रामायण चित्रों को अत्यन्त सूक्ष्मता एवं दक्षता के साथ अंकित किया है। इन चित्रों में भावानुकूल स्थिति, आकर्षण साज-सज्जा, चित्रतल का उचित वर्गीकरण एव संयोजन है।

संदर्भ संकेत—

१. कांगड़ा (कला, देश और गीत) महेन्द्र सिंह रंधावा (१०७०) नई दिल्ली।

२. पहाड़ी मिनियेचर पेन्टिंग : कार्ल खाण्डालावाला (१३५८) बम्बई।

3. वैष्णवइज्म इन द पंजाब हिल्ज़ एण्ड पहाड़ी पेन्टिंग : करुणा गोस्वामी, शोधग्रन्थ— १९६८ चण्डीगढ़।

४. चीफ्स एण्ड फैमिलीज नोट इन द पंजाब : ग्रिफिन एण्ड मेसी (१९४०) लाहौर।

५. इण्डियन पेन्टिंग इन द पंजाब हिल्ज़ : आर्चर (१९५२) लन्दन।

६. गोलू, द नूरपुर आर्टिस्ट : बी० एन० गोस्वामी, जून १९६४, वोल्यूम १७, नं० 3

७. डमटाल : बी० एन० गोस्वामी, मार्ग, जून १९६४, वोल्यूम १७, नं. 3, बम्बई।

८. टाऊन एण्ड विलेज डायरेक्टरी, कांगड़ा डिस्ट्रिक (१९७१)

९. कांगड़ा डिस्ट्रिक गजेटियर (१९२४-२५) वोल्यूम २, पार्ट–ए

१०. वाल पेन्टिंग आफ द वेस्टन हिमालयाज : मीरा सेठ (१९८९) नई दिल्ली।

११. पंजाब म्यूरल : के. सी. आर्यन, नई दिल्ली।

१२. नूरपुर : के. सी. आर्यन, मार्ग, जून १९६४, वोल्यूम १७, नं. 3, बम्बई।

१3. हिमाचल भीत्तिचित्रों की परम्परा : डॉ० ओम चन्द हांडा, ट्रिब्यून 3 जनवरी, चण्डीगढ़।

१४. हिमाचल प्रदेश के कलात्मक भीत्तिचित्र : डॉ० राम स्वरुप, सोमसी, जनवरी १६८३, शिमला (हिमाचल प्रदेश) ।

एम० ए० पी० एच० डी०
१४/१४३५, किशनपुरा,
पुल जोगियान, सहारनपुर
(उत्तर प्रदेश)

ओबड़ी शिवद्वाला–चम्बा के भित्तिचित्र

—विजय कुमार शर्मा

चम्बा नगर से २ किलोमीटर दूरी पर शीतला पुल के समीप 'माई का बाग' नामक मुहल्ला है, जिसके पार्श्व भाग को ओबड़ी कहते हैं। पठानकोट-चम्बा सड़क के पास में से पौड़ियाँ चढ़कर एक पुराने शिवमन्दिर के दर्शन होते हैं। वास्तव में इस मन्दिर का नाम "बाण-लिंगेश्वर महादेव" है। परन्तु यह मन्दिर "**ओबड़ी-शिवद्वाला**" के नाम से प्रसिद्ध है।

ओबड़ी शिवद्वाला की वस्तु शैली प्राय: चम्बा के अन्य काष्ठ निर्मित मन्दिरों की भांति ही है। भरमौर के 'लक्षणा देवी' मन्दिर, चम्बा नगर में चामुण्डा मन्दिर, बैरा वाली भगवती का देवी कोठी मन्दिर की भान्ति ओबड़ी शिवद्वाला भी काष्ठ निर्मित मन्दिर है। ओबड़ी शिवद्वाला का अधिष्ठातृ देवता शिव है। मन्दिर के गर्भगृह में शिवलिंग अवस्थित है। महाशिवरात्री के अवसर पर असंख्य श्रद्धालू 'ओबड़ी शिवद्वाला' में शिवाराधना हेतु आते हैं।

'ओबड़ी शिवद्वाला' के गर्भगृह की बाह्य दीवारों पर नयनाभिराम चित्र अंकित हैं। मन्दिर की दायीं, बायीं, अगली व पार्श्व दीवारें कलात्मक चित्रों से सुसज्जित हैं। मन्दिर में बनाये गले भीत्तिचित्र पहाड़ी (चम्बा) चित्रशैली में हैं। सभी दीवारों के कुल मिलाकर २५ चित्र थे जिनमें में अधिकांश जन साधारण की उपेक्षा के कारण मन्द व क्षतिग्रस्त हो चुके हैं। तथापि शेष दर्शनीय भीत्तिचित्रों की संख्या दस है। ये चित्र भी वातावरण के प्रभाव से अपनी आभा खो रहे हैं। पहाड़ी शैली के अन्तर्गत भित्तिचित्रों के यह कतिपय अनुपम उदाहरण हैं। 'ओबड़ी शिवद्वाला के सभी भीत्तिचित्र धार्मिक विषयों पर आधारित हैं।' अधिकांश भीत्तिचित्र शिव के विभिन्न रूप व लीलाओं को दर्शाते हैं। पार्श्व दीवारों के चित्रों में दुर्गा शप्तशती के भी चित्र हैं। 'दुर्गा शप्तशती' विषय पर आधारित हैं। 'दुर्गा सप्तशती' पर आधारित प्राय: सभी चित्र बुरी तरह से क्षतिग्रस्त हो चुके हैं। शिवद्वाला की सम्मुखी तथा दायीं दीवारों के भित्तिचित्र अभी भी स्पष्ट देखे जा सकते हैं।

ओबड़ी-शिवद्वाला के भीत्तिचित्रों का अंकन काल मध्य उन्नीसवीं शती का है। शैली के आधार पर कथित भीत्तिचित्र चम्बा नरेश जीत सिंह व चढ़त सिंह के समकालीन प्रतीत होते हैं क्योंकि चढ़त सिंह

पश्चात् (१८२०-१८५० ई) चम्बा चित्रशैली में सिक्ख शैली का प्रभाव आ चुका था। ओबड़ी-शिवद्वाला के भीत्तिचित्रों के चित्रांकन के संदर्भ में चित्रकार मियां तारा सिंह का उल्लेख मिलता है। अखडचन्डी महल के भीत्तिचित्र भी तारा सिंह द्वारा चित्रित माने जाते हैं। तारा सिंह एक कुशल चितेरे के साथ ही तान्त्र विद्या का भी ज्ञाता था। अतः ओबड़ी शिवद्वाला के भीत्तिचित्रों पर तान्त्र रहस्य की झलक मिलती है। अखंडचडी महल के भीत्तिचित्र 'ओबड़ी-शिवद्वाला' के भीत्तिचित्रों से अत्माधिक मेल खाते हैं।

ओबड़ी-शिवद्वावा के भीत्तिचित्र पत्थर की दीवार पर पलस्तर की सतह बनाकर चित्रित किये गये हैं। पत्थर की दीवार पर चूने की लगभग २ इँच की सतह जमाई गई है पत्थर की ईंटों की दीवार पर पर पहले लगभग $1\frac{1}{4}''$ की सतह चूना मिट्टी, भूसा व सगमरमर के बारीक टुकड़ों को मिश्रित गारे से प्रारम्भिक सतह बनाई गई है। तत्पश्चात् उसके ऊपर चूना मिट्टी व मकोल (ग्रेफाईट-पत्थर) के शुद्ध लेप से $\frac{3}{4}''$ की दूसरी सतह बनाई गई है। उक्त पलस्तर पर लगभग ४-५ अस्तर सफेदा (सफेद रंग) के किये हुए हैं तब चित्रांकन योग्य धरातल तैयार किया गया है।

ओबड़ी शिवद्वाला के भीत्तिचित्रो में लगभग उन्ही रगो का प्रयोग हुआ है जो कि चम्बा शैली के लघु चित्रों से प्रयुक्त हुए हैं। भीत्तिचित्रों में प्रयुक्त रंगों का विवरण इस प्रकार से है :—

सफेदा :— (सफेद रग) शंख व जस्त का सफेदा दोनों ही रंग समान रूप से प्रयुक्त हुए हैं।

हरिताल :—यह संखिए का सल्फाईड होता है। इससे पीला रंग बनता है। ओबड़ी शिवद्वाला के भीत्तिचित्रों से इसका प्रयोग कम हुआ है। अधिक प्रयोग **गऊगोली** (गौ मूत्र से निर्मित पीला रंग) का हुआ है।

सिंगरफ :—यह एक अति महत्वपूर्ण है। इससे लाल रंग बनता है। भीत्तिचित्रों से इस रंग का अत्याधिक प्रयोग हुआ है।

सिन्दूर :—इस रंग का भी भीत्तिचित्रो में उपयोग किया गया है।

नीला :—नील व लाजवर्द दोनों का प्रयोग भीत्तिचित्रों में हुआ है।

काला : काजल के काले रंग का प्रयोग भीत्तिचित्रो की बाह्य रेखाओं (खुलाई) हेतु हुआ है।

सोना :— सुनहरा रंग भी शिवद्वाला के भीत्तिचित्रों में अधिक प्रयुक्त हुआ है परन्तु हलमारी के रूप में।

ओबड़ी शिवद्वाला के भीत्तिचित्र धार्मिक विषयों पर आधारित हैं। शिव और दूर्गा के विविध प्रसंग ही भीत्तिचित्रों के मूल विषय हैं।

मन्दिर की सम्मुखी दीवार पर दरवाजे के ठीक ऊपर ब्रह्मा, गणपति-ऋद्धि सिद्धि व लक्ष्मी नारायण के लघु चित्र फलक हैं। सम्मुखी दीवार के ऊपर ही खड़े बल चार भीत्तिचित्र क्रमश: (क) सदाशिव स्नान करते हुए, (ख) हरिहर, (ग) अर्धनारीश्वर, (घ) शिव परिवार अभी तक संरक्षण योग्य अनुपम उदाहरण हैं। मुख्य द्वार के दोनों ओर भैरव के वृद्धाकार भीत्तिचित्र हैं जो कि धुंधले पड़ने के कारण स्पष्ट नहीं दीखते।

दायीं ओर की दीवार पर प्रथम पंक्ति में क्रमश: भांग छानते शिव-पार्वती, स्नान करती पार्वती, भू-दृश्य, पार्वती को कथा सुनाते शिव, नरमुण्डों की माला बनाते शिव-पार्वती, गणेश व कार्तिकेय हैं। निचली पंक्ति में क्रमश: शिव ताण्डव नृत्य, राक्षसों व शिव सेना में युद्ध, शिव स्तुति के चित्र हैं। बायीं ओर की दीवार पर क्रमश: चण्ड-मुण्ड युद्ध, विष्णु अवतार, रक्त बीज को निगलती काली, देवी-राक्षस युद्ध, राक्षसों का संहार करती काली के चित्र बने हैं। बायीं ओर के यह चित्र क्षतिग्रस्त हो चुके हैं।

पार्श्व दीवार के लगभग सभी चित्र नष्ट हो चुके हैं। प्रथम पंक्ति के चित्र सतही दीवार से अलग होकर टूट गये हैं। निचली पंक्ति में भी सीमेन्ट से जगह-जगह पैबन्द लगा दिये गये हैं। यहां महिषासुर मार्दिनी, सिंहारूढ़ दुर्गा व राक्षसों का संहार करती हुई काली के चित्र चित्रित थे।

सरक्षण सहायक
जिला भाषा कार्यालय,
चम्बा, (हि० प्र०)

किन्नर कैलाश के आंचल में स्थित बौद्ध गोम्पा

—छेरिंग ड्गे ठाकुर

हिमाचल प्रदेश के जनजातीय क्षेत्र में बौद्धधर्म का अत्याधिक प्रचलन रहा है। इन क्षेत्रों में स्थित बौद्ध गोम्पाएं बौद्धधर्म के विशेष केन्द्र रहे हैं जो पर्वतों के आंचल में स्थान-स्थान पर स्थित हैं। किन्नर कैलाश जिला किन्नौर का एक प्रमुख पर्वत है। यह हिन्दू संस्कृति के लिए तो प्रसिद्ध रहा है इसके अतिरिक्त इस पर्वत के आंचल में बौद्ध धर्म का भी प्राचीन काल से काफी प्रभाव रहा है। इस पर्वत के आंचल में जिला शिमला के रामपुर बुशैहर क्षेत्र से लेकर किन्नौर के जंगी गांव तक की आठवीं-नवीं शताब्दी की बौद्ध गोम्पाएं इसकी प्रमाण हैं। इन गोम्पाओं की परिचयात्मक जानकारी ही इस लेख का विषय है।

१. रामपुर स्थित बुद्ध मन्दिर :

यहां मन्दिर को गोम्पा नहीं कहा गया क्योंकि यहां दो संस्कृति का मिलन जो हुआ है, इसलिए गोम्पा के स्थान पर मन्दिर का प्रयोग हुआ है। यह मन्दिर बाहर से बहुत प्राचीन लगता है। भीतर भगवान बौद्ध की तीन आदम कद मूर्तियां हैं। एक विशाल धर्मचक्र (दुङ्ग्युर) ३० फुट के लगभग जिस की गोलाई है। इसी धर्मचक्र के नाम पर इस मन्दिर को दुङ्ग्युर गोम्पा भी कहते हैं। मन्दिर के भीतर ही तीन फुट का एक लघु स्तूप (छोरतेन) तथा अन्य छोटी-छोटी मूर्तियां जिसमें से लगभग २१ सैं० मी० की आठ छेपगमें की मूर्तियां धूल तथा नित्य पूजाकर्म से उठे धूएं से धूसरित पड़ी हुई हैं। यहां एक संगमरमर की शिलालेख भी है जिस पर किसी अन्य भाषा के लिपि में कुछ अंकित है ऐसा लगता है कि यह शिलालेख अवश्य किसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को सजोए हुए है। इस मन्दिर क रामपुर बुशैहर के राजा शमशेर सिंह के काल में उपस्थित पाया गया। राजा शमशेर सिंह के बाद राजा रघुवीर सिंह हुए और इसके बाद राजा पदम सिंह का राज्य काल रहा। राजा पदम सिंह अंग्रेजों के शासन काल में रहे तदोपरान्त स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद उनका राज्य स्वतन्त्र भारत का अंग बनकर रहा। आज हिमाचल प्रदेश के अन्तर्गत इसका अन्तर्लयन हुआ है। इस मन्दिर की दीवारें प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ तन्ग्युर तथा कन्ग्युर (त्रिपिटक) की एक बहुत बड़ी काष्ठमंजूषा से अलकृत है। मन्दिर से सम्बन्धित व्यवस्था संतोष जनक नहीं कही जा सकती, जिसकी सुरक्षा के प्रबन्ध आवश्यक हैं।

२. सन्डुब छोस्लिङ् गोम्पा :

किन्नौर जिले का मुख्यालय काल्पा में जहां हालांकि बौद्धमतावलम्बियों का कम प्रभाव है तथापि यहां संन्डुब छोस्लिङ् नाम का एक गोम्पा है जिसकी स्थापना लोचा रिन्छेन ग्रंगपो (रत्नभद्र) ने सातवीं शताब्दी में किया और सन् १९६५ में इस मन्दिर का पुनोंद्धार भी हुआ जिससे मन्दिर की वास्तविक वास्तू-कला देखने को नहीं मिलती। मन्दिर के बाहर आंगन के एक बड़े आकार का स्तूप जिसके कलश में मैत्रेयबुद्ध (जावाजम्बा) की लघु आकार की मूर्ति स्थापित है। मन्दिर की व्यवस्था संतोषजनक है। यहां डुग्पा काग्युदपा सम्प्रदाय के लामागण रहते हैं।

३. छोस्खोर लिङ् गोम्पा :

यह गोम्पा काल्पा के समीप ब्रेलिङ् नामक गांव में स्थित है। गोम्पा के मुख्य कक्ष के मध्य में बुद्ध की मूर्ति और बगल-बगल में चोंवारा तथा तारा (डोलमा) की मूर्तियां विराजमान हैं। इस गोम्पा को श्री पलदन सिंह द्वारा निर्मित बताया जाता है।

४. डुप्ग्युद छोस्लिङ् गोम्पा :

यह गोम्पा काल्पा के समीप पांगी नामक गांव में स्थित है। डुप्ग्युद छोस्लिङ् का अभिप्राय है ज्ञान प्राप्ति का स्थल। इस गोम्पा के मुख्य कक्ष के मध्य में भगवान बुद्ध की ७ फुट ६ इंच मिट्टी निर्मित भूमि स्पर्श मुद्रा में एक प्रतीमा है। ठीक उसके आगे लामा सोनम डुग्गे (एक प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य, जिसके नाम पर आज भी उनके वंशज द्वारा बौद्ध पद्धति पर आधारित पंचांग उनके अपने गांव लिप्पा से प्रकाशित होता है) तथा तन्नजिन ज्ञालछन (जिसको नेगी लामा के नाम से जाना जाना है एक-एक सुप्रसिद्ध विद्वान लामा जिसने तिब्बत की यात्रा की थी) की प्रतिमा अवस्थित है। अगल-बगल में चांदी निर्मित आठ इंच का दोरजे सेम्पा तथा व्रजधारा की मूर्तियां और कुछ बुद्ध की छोटी-छोटी मूर्तियां, व्रजपाणी, मन्जूश्री, तारा (डोलमा), अमितायु, आर्या-मूर्ति वलोकितेश्वर की छोटी-छोटी मूर्तियों सहित गोम्पा की शोभा बढ़ा रही हैं। इस गोम्पा के पुजारी व कार्यभारी के रूप में श्री युङतन जंगपो कार्य कर रहे हैं।

५. लोचा लवरंग :

यह गोम्पा भी काल्पा के समीप पांगी नामक गांव के बीच में स्थित है। यहां नीङ्मापा सम्प्रदाय के लामा रहते हैं। इस गोम्पा के विषय में जनश्रुति है कि इसे लोचावा रिन्छेन जगपो (रत्न भद्र) ने एक ही रात में बनवा कर तैयार किया था। इस गोम्पा के मुख्य कक्ष के मध्य में भगवान बुद्ध की मूर्ति तथा आस-पास कई छोटी-छोटी मूर्तियां हैं। इस गोम्पे का इन्चार्ज लामा सोनम थेकचेन है।

६. टशी छोस्लिङ् गोम्पा :

यह गोम्पा काल्पा से लगभग ७ किलोमीटर की दूरी पर रारंग नामक गांव के ऊपर चट्टान के अवस्थित है। यहां ग्यलुक्पा सम्प्रदाय के लामा रहते हैं। इस गोम्पा के मुख्य कक्ष के मध्य में भगवान बुद्ध की मूर्ति जिसके अगल-बगल में शारिपुत्र और मोद्गल्यान की मूर्तियां हैं। इस गोम्पे में कई थंकाएं तथा कन्ज़ूर (त्रिपिटक), बुम आदि पवित्र ग्रन्थ हैं। इस गोम्पा में छोएगोन रिन्पोछे का ६वां अवतार रहते हैं। जिसकी आयु १२ वर्ष है और इनका जन्म लद्दाख में हुआ था। सोनमनो रबू शरंग का प्रसिद्ध लामा रहा है, उन्हीं का धातू निर्मित स्तूप भी है जिसका निर्माण १९७० ई० में किया गया। इस गोम्पे का संस्थापक गा रिन्पोछे जी हैं जो तिब्बत से आकर यहां बस गए। इस गोम्पे के ठीक ऊपर पहाड़ों में एक गुफा भी है, जहां गा रिन्पोछे जी साधना करते हैं।

७. कुन्जांग छोस्तेरलिङ् गोम्पा :

यह गोम्पा भी रारंग गांव में स्थित है। जिसका संस्थापक नवांग जम्पल है। सम्भवत: इस गोम्पे का निर्माण लगभग १५वीं शताब्दी में हुआ है। गांव के मध्य में एक छोस्तेन (स्तूप) भी है जिसका नाम छोस्तेन टशी ओदजेर तथा निर्माण १९७० ई० के लगभग हुआ है।

८. डुग्यूद छोस्लिङ् गोम्पा :

यह गोम्पा रारंग से १५ किलोमीटर की दूरी पर स्थित जंगी नामक गांव में स्थित है। यह गोम्पा ११-१२वीं शताब्दी में युलग्यल टुल्कू (युडुल टुलकू) ने बनाया। यहां डुग्पा सम्प्रदाय के लामा रहते हैं। गोम्पे के बाह्य कक्ष कापुर्नोद्धार हुआ है परन्तु भीतरी कक्ष वही ११-१२वीं शताब्दी के हैं। इस गोम्पे का पुजारी श्री सङ्गतन्जिन है। इसके अतिरिक्त इस गांव में एक और गोम्पा भी है जिसे जिठोलखङ् कहते हैं जो गांव वालों ने ५० वर्ष पूर्व जिठो (जो कि एक विशेष पूजा अनुष्ठान होता है) के लिए बनाया।

इन गोम्पाओं के अतिरिक्त भी किन्नर कैलाश के आंचल में कई अन्य छोटे-मोटे गोम्पाएं हैं जिनका परिचय आज तक किसी ने नहीं दिया है परन्तु सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इन गोम्पाओं के समुचित संरक्षण हेतु सरकार को उचित कदम उठाना चाहिए। वरना वह दिन दूर नहीं कि हमें इन गोम्पाओं के केवल अवशेष मात्र ही मिल पाएं।

सांस्कृतिक संयोजक
भाषा एवं संस्कृति विभाग
हिमाचल प्रदेश, शिमला-२

अर्की जनपद के मेले

—शंकर लाल शर्मा

मेले, उत्सव और त्यौहार हमारी संस्कृति के प्रतीक हैं, हमारे पुरखों की धरोहर है। हमारे जन जीवन में इनका विशेष महत्व है इसमें दो मत नहीं हो सकते। इनके प्रचलन के पीछे धार्मिक, आर्थिक एवं सामाजिक सभी प्रकार की धारणाएं समान रूप से जुड़ी-मिली रहती हैं। इनका प्रचलन तत्कालिक आवश्यकता के रूप में हुआ होगा जो कालान्तर में हमारे जीवन से जुड़ते चलते सामाजिक परिपाटी का भाग बन गये।

मेले मिलने का सुयोग होते हैं। अन्यथा न सही मेले के बहाने तो सभी मिल लेते हैं। श्रम भार भरा ग्रामीण जीवन कुछ दिन मेलों के रूप में सामुहिक मनोरंजन कर लेता है। मेले प्राय: दो फसलों के संधिकाल पर आयोजित होते हैं। अच्छी फसल आने की खुशी को व्यक्त करने के साधन स्वरूप।

मेलों का दूसरा बड़ा पक्ष आवश्यक वस्तुओं का क्रय-विक्रय था। तब, जब आज की सी सुविधा नहीं थी मेले व्यापार का प्रमुख आकर्षण थे। आज स्थिति बदल गई है मगर फिर भी मेलों का अपना ही बांकपन है।

मेलों के साथ धार्मिक मान्यताओं को जोड़ा गया है। धर्म समाज को स्वस्थ परंपराओं पर चलाने में विशिष्ट भूमिका निभाता है। नैतिक मूल्यों को स्थापित कर स्थायित्व प्रदान करने में धार्मिक आस्था एवं विश्वास का विकल्प नहीं। पाप-पुण्य के मूल में भी यही भावना कार्य करती है।

अर्की जनपद में मनाये जाने वाले प्रमुख मेले ये हैं :—

चंडी की जात

बैशाख महीने में अर्की के चंडी गांव में एक जात होती है। चंडी गांव अर्की के पश्चिम में कशलोग के ऊपर धार पर है। यहां शक्ति का मन्दिर है जो दूर से दिखता है। सामने हरसंग धार और नीचे सतलुज नदी यह क्षेत्र सीमा पर है। गांव का नाम तो सेवड़ा है परन्तु जिस स्थल पर मेला लगता है वह मन्दिर के कारण चंडी कहलाता है।

यहां चार देवताओं के रथ आते हैं। एक रथ हरसंग देवता का हरसंग धार पर बने मन्दिर से लाया जाता है। दूसरा देवरथ मांगू गांव से, तीसरा रथ ग्याणा से व चौथा बड़ोग से।

मन्दिर के नीचे खुले प्रांगण में इन देवरथों को नचाया जाता है। नाचने के लिए दो व्यक्ति देव चौकी को उठाकर एक विशेष ताल पर लय मुद्रा में नाचते हैं। यह लय ताल बदलते रहते हैं। अपने क्षेत्र के देवता का नृत्य देखकर लोग प्रसन्न होते हैं। अन्न धन की भेंट चढ़ाते हैं। कल्याण व आशीर्वाद के लिए वरदान मांगते हैं।

सांझ ढलते-ढलते यह नाच बन्द होता है। उसके बाद सभी देवरथ अपने लोगों के साथ लौट जाते हैं। बड़ी श्रद्धा से लोग इन्हें मानते-पूजते हैं। इनके विदा होते ही लोग घरों को लौट चलते हैं। अब इसी स्थल पर एक हाई स्कूल है। स्कूल के छात्र-छात्राएं सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत करते हैं। यहां खेलों का आयोजन भी होता है। यह मेला ठेठ ग्रामीण क्षेत्र के भीतर मनाया जाता है जिस कारण इसका अपना ही आकर्षण और स्थान है।

बनिया देवी

ज्येष्ठ मास की संक्रान्ति को अर्की के बनिया देवी स्थान पर एक मेला लगता है। यह स्थल अर्की-धुन्दन मार्ग पर अर्की से दस किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। यहां पर दस भुजा महाकाली का प्राचीन ऐतिहासिक मन्दिर है। बनिया देवी संभवतः वन देवी का रूप है। कभी यहां घना वन था। इस मनोरम स्थान पर जल का प्राकृतिक स्रोत बहुत सुन्दर है। बाघल के राजा यहां का जल पीने के लिए नियमित मंगवाते थे।

इस मेले में स्यार-कोटला (दाड़ला) से गणदेव की शोभा यात्रा का रथ आता है। वह देव रथ पहली रात मोहल गांव में विश्राम करता है। बखालग शिव मन्दिर से शिव पंचायत को शोभा जलूस के रूप में यहां लाया जाता है। तीसरी देव प्रतिमा गांव सेरी से नृसिंह भगवान की आती है। देव रथ को नचाया जाता है। वाद्य यन्त्रों के विशेष ताल पर यह नृत्य होता है जो लोगों के आकर्षण का केन्द्र रहता है।

गेहूं की फसल का देवी को रखा गया चढ़ावा चढ़ाया जाता है। यह चढ़त इस देवी के मानने वाले प्रत्येक परिवार से आती है। मेले में आने पर लोग पहले देवी के मन्दिर में शीश नवाते हैं चढ़त-चढ़ावा देने के बाद फिर मेले में शामिल होते हैं।

अर्की के शासकों ने, जिनकी राजधानी पहले धुन्दन थी, इस स्थान को राजधानी के लिए चुना था। पीछे विचार बदल कर अर्की को राजधानी बनाया। बाघल नरेश यहां प्रति वर्ष सवारी पर आते थे। यह मेला राजकीय संरक्षण में होता था। राजा साहब यहां कुछ दिन रहते थे। यहीं दरबार लगता था।

मूर्ति तथा मन्दिर के बारे में कई लोक कथाएं प्रचलित हैं। राजा की ओर से पूजा के लिए पुजारी परिवार नियुक्त था। जिन्हें बिना लगान चालीस बीघे भूमि मिली हुई थी। इसी प्रकार दूसरे सेवादार भी नियुक्त थे। आज भी लोगों में इस मन्दिर व मेले मे आने के प्रति वही श्रद्धा तथा विश्वास है। अब मेला पंचायत की देख-रेख में होता है। मन्दिर की दशा ठीक नहीं है।

दानो घाट

१५ ज्येष्ठ को अर्की के दानोघाट गांव मे मेला लगता है। यह स्थान शिमला-मण्डी राजमार्ग पर शिमला से लगभग तीस किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। यहां पर दानो देवता का मन्दिर है। इस मेले में गांव चंडी की हरसंग धार से हरसंग देवता का रथ तथा मंढोड़ घाट (भज्जी) से मढ़ोड़ देवता का रथ आता है।

यह देवरथ एक खुले प्रांगण मे नृत्य करते है। यह नृत्य ढोल, नगाड़ा, रणसिंगा तथा करनाल जैसे वाद्य यन्त्रों की विशेष लय पर चलता है। एक अनूठा-सा भावपूर्ण वातावरण बन जाता है इस देव नृत्य के दौरान। लोग श्रद्धा पूर्वक धन-धान्य अर्पित करते हैं। पहले देवताओं को प्रसन्न करने के लिए पशु बलि दी जाती थी, अब नहीं दी जाती।

देव नृत्य के बाद पुजारी समूह एक स्थल पर बैठ जाता है। उनके आह्वान पर वाद्य यन्त्रों की धुन में उन पर देव छाया आती है। इस समय लोग 'पूछ' लेते हैं। किसी दैवी प्रकोप या व्यक्तिगत त्रास से मुक्ति पाने का उपाय बताया जाता है। साथ ही यह भी कि इस कष्ट का कारण क्या था। फिर लोग आने वाले सयम के लिये अभयदान स्वरूप सत्वांजे (गेहूं के दाने) शिरोधार्य लेते हैं।

यह मेला पौराणिक है। इसके साथ रामायण तथा महाभारत कालीन किस्से जुड़े हुए हैं। एक कथा के अनुसार यहां साहस्रबाहु का राज्य था जो बड़ा दानी हुआ है। उसी की याद में यह मेला लगता है। एक अन्य कथा के अनुसार यहां पांडवों का मढोड़ देव से युद्ध हुआ था जिसमें मंढोड़ देव मारा गया। मंढोड़ भीम की पत्नी हिडिम्बा को भगा ले जा रहा था। बाद में अपने तपोबल से मंढोड़ जीवित हो उठा था। उसके दानवी कार्य के कारण इस स्थान को दानव घाट कहा गया।

बाघल नरेशों ने इस मेले को राज्य स्तर पर मनाना शुरु किया था। इस मेले से पहले ही लोग गेहूं की फसले भर लेते हैं तथा इस मेले के बाद मक्की की फसल बीजने की तैयारी में जुट जाते हैं। अब स्कूली छात्र सांस्कृतिक कार्यक्रम भी प्रस्तुत करते हैं। समय के साथ मेले के स्वरूप में भी परिवर्तन स्वभाविक है।

जात घणागू घाट

ज्येष्ठ के २० प्रविष्टे को अर्की धार के एक गांव घणागू घाट में एक मेला लगता है। घणागू घाट में मढोड़ देवता का स्थान है। इसी के प्रांगण मे जात आयोजित होती है। जात का मुख्य आकर्षण गणदेव के रथ का नृत्य व गुर-पुजारी द्वारा दी जाने वाली पूछ है।

गणदेव शिव के गणों का समूह है। इसमें चार किनारों की एक वर्गाकार चौकी में कुल बारह देव-मूर्तियां रहती हैं, हर ओर तीन-तीन। गणदेव का स्थान दाड़ला के पास कोटला गांव मे है। कोटला से गणदेव की शोभा यात्रा प्रातःकाल शुरु होती है। इसके साथ वाद्य वादक, रथ उठाने वाले, छत्र घुमाने वाले तथा चंवर झुलाने वालों के साथ पुजारी व अन्य आस-पास के गांव से लोग एक लम्बे जलूस के रूप में निकलते हैं। सगीत से घाटी गूंजने लगती है। रंग-बिरंगे परिधान पहने पहाड़ी रास्ते मे एक फूल माला की तरह लगती है यह देव यात्रा।

दोपहर से पहले ही यह यात्रा घणागू घाट पहुंच जाती है। देव मिलन के बाद चार पहर का नृत्य होता है। चार पहर से तात्पर्य मंढोड़ देवता के सामने क्रम से गणदेव की एक त्रिमूर्ति जितना समय रहती है उसे एक पहर होता है। चारों किनारे बारी-बारी आते जाते हैं। इससे आस-पास की पहाड़ियों पर बैठे दर्शक भी सभी देव मूर्तियां देख लेते हैं। अन्न-धन की चढ़त दी जाती है।

लोग पुजारी से पूछ लेकर अपने दुःख क्लेशों का समाधान करते हैं। सांझ ढलते गणदेव लौट जाता है। विदाई देते लोग श्रद्धा से नतमस्तक हो जाते हैं। स्कूल के छात्र सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत करते हैं। रात को करियाला होता है।

बाड़ी धार मेला

आषाढ़ की संक्रान्ति को अर्की की बाड़ी धार पर एक मेला लगता है। यह मेला अर्की, बिलासपुर (कहलूर) तथा नालागढ़ (हण्डूर) की सीमा संधि स्थल पर मनाया जाता है, अतः इस मेले का अपना ही महत्व है। अर्की के मेलों मे यह प्रमुख मेला है।

यह मेला ऐतिहासिक और धार्मिक आधार पर सदियों से मनाया जाता है। सामाजिक पृष्ठभूमि इसके मनाने में अपना विशिष्ट योगदान रखती है। यह स्थान एक ऊंची पहाड़ी पर जिसकी ऊंचाई सात हजार फुट से अधिक है, घने वन प्रदेश में स्थित है। एक समतल क्षेत्र में शिव मन्दिर बना है। इस मन्दिर में महाभारत काल में पाण्डव अपने वनबास का तेरहवां अज्ञातबास काल गुजारने आए थे। यह प्रदेश हिडिम्बा के अधिकार में था। हिडिम्बा-भीम प्रणय व विवाह भी इसी स्थल से जुड़ा है।

अर्जुन, भीम तथा नकुल व सहदेव के किले इस स्थान के चारों ओर नीचे घाटियों में थे। मेले में इन स्थलों से उनके मेहरे (मूर्तियां) लाई जाती हैं। यहां के लोग पाण्डवों की पूजा करते हैं।

संक्रान्ति की पूर्व संध्या से ही मेला प्रारम्भ हो जाता है। ज्येष्ठ मास के दूसरे पखवाड़े में मन्दिर में बेल वजती है। पूर्व संध्या पर पाण्डवों के सभी मन्दिरों से पुजारी रात को एकत्र होते हैं। युधिष्ठर वहीं शिव मन्दिर के प्रांगण में रहे थे। मेले वाले दिन पाण्डव रथ सजा-धजा कर यहां लाए जाते हैं। विशेष वाद्य यन्त्र बजाये जाते हैं।

इस समय गेहूं-जौ की फसल भर ली जाती है। इसकी भेंट चढ़ाई जाती है। स्वतन्त्रता से पूर्व यहां भैंसे की बलि दी जाती थी। अब नहीं दी जाती। पुजारी लोगों को पूछ देते हैं उन्हें आशीर्वाद, अभय-दान देते हैं।

मन्दिर के प्रांगण में देव नृत्य चलता रहता है। लोग अन्न-धन के चढ़ावे देते हैं। मन्दिर के चारों ओर एक बड़ी दीवार बनी है। यह पत्थरों की बनी हुई है। इसी घेरे के अन्दर मेला लगता है। यहां सभी पाण्डवों के पाईते (स्मृति स्थल) बने हैं।

मेले का प्रबन्ध एक स्थानीय कमेटी करती है। शाम ढलते सभी देव रथ अपने स्थानों को लौट जाते हैं। उनके साथ उनके कारदार लोग भी चलते हैं। वापसी पर वाद्य यन्त्र नहीं बजाए जाते। सभी लोग अपने-अपने देव रथों के साथ लौटने हैं। मेले से होने वाली आय सभी देवालयों में बांट दी जाती है।

वर्ष में अन्य दिनों यहां कोई नहीं रहता। कोई एक साधु कुटिया में कभी-कभार आ ठहरता है। भादों मास में यहां महीना भर सांध्य दीप जलाया जाता है। यह कार्य विशेष लोगों के जिम्मे रहता है। इस मेले के बाद बरसात पड़ जाती है। अतः कई महीनों तक कोई समारोह-उत्सव नहीं होते। बरसात के बाद सर्दी के त्योहारों की श्रृंखला चलती है।

यह स्थान शिमला की ऊंचाई वाला है। इसे पर्यटन केन्द्र के रूप में विकसित किया जाना चाहिए। सड़क कुछ वर्ष पूर्व जीप योग्य बनाई गई थी। यहां पानी का अभाव भी है। स्थानीय पंचायतें मिलकर इस स्थल के विकास में विशेष योगदान कर सकती हैं।

ग्यामी मेला घरनो

आषाढ़ संक्रान्ति के बाद आने वाले ज्येष्ठ मंगलवार को अर्की के घरनो गांव में ग्यासी मेला लगता है। यह मेला दूसरे मेलों से अलग प्रकार का है क्योंकि यहां न तो किसी देवता की यात्रा होती है न ही नाच गाना।

ग्यासी चौरासी मातृकाओं में से एक योगिनी है। इसे शिशुओं की रक्षक माना जाता है। यहां पर ग्यासी का एक मन्दिर है जिसके प्रांगण में यह मेला मनाया जाता है। माताएं अपने बच्चों के कल्याणार्थ यहां आती हैं। ग्यासी देवी को धन-धान्य अर्पित कर अपने बालक के सुखद भविष्य की कामना करती हैं। वर्ष भर में जब तब सकट के समय मानी गई मनौतियां और बांध यहां आकर पूरती हैं।

अब तक गेहूं की फसल घर आ चुकी होती है। नई नेह की भेंट स्वरूप रखे हुए दाने इसी दिन अर्पित किये जाते हैं। माताए अपने बच्चों को गोदा मे उठाए दूर-दूर से यहां आती हैं। गर्मी का मौसम होता है अतः पेड़ों की घनी छाया में पानी की पतली धार का नालू लगाकर बच्चों को सुला देती हैं। पानी की धार बच्चे के तालू पर गिरती रहती है।

माताए हलवा रोटी घर से पका कर या इसी स्थल पर बनाकर देवी की पूजा करती हैं। ग्यासी देवी के लिए नए वस्त्र का उपहार दिया जाता है। यह मेला महिलाओं का ही होता है। इसलिए उन्हीं के अनुरूप यहां का प्रबन्ध रहता है। अपने-अपने झुण्डों में भजन-कीर्तन चलता रहता है। सांझ ढलते ही सभी माताएं देवी को शीश नवा कर अपने बच्चों की मंगल कामना करती घर लौटती हैं। स्त्रियां घरों में भी रसोई की एक दीवार पर ग्यासी देवी की गोल रग-बिरंगी आकृति बनाकर पूजती हैं।

अर्की का सायर महोत्सव

अर्की के चौगान में प्रति वर्ष अश्विन मास की संक्रान्ति को सायर का मेला मनाया जाता है। यह मेला ऐतिहासिक, धार्मिक एवं स्थानीय सामाजिक आवश्यकताओं की त्रिवेणी है। इस मेले का मुख्य आकर्षण भैंसों (झोटों) की लड़ाई है। यह मेला पहले बाघल रियासत के नरेशों के संरक्षण में मनाया जाता था। अब यह मेला स्थानीय नोटीफाइड एरिया कमेटी की देख-रेख में होता है।

भाद्रपद मास में अधिक वर्षा तथा हरियाली के कारण चारों ओर अंधेरा छाया रहता है। इसलिए इसे अंधेरा महीना कहते है। बरसात में बुखार-व्याधियां अधिक रहती हैं। एक कहावत है कि जिसने सायर का पानी चख लिया उसे बीमारी का भय नहीं रहता। महिलाएं तड़के बाउड़ियों पर एकत्र होकर सायर गीत गाती हैं। वरुण पूजा करती हैं और परिवार कल्याण के लिए धान की चूलें व खट्टे आदि चढ़ाती हैं। पानी का कलश भर कर घर के सभी लोगों को सायर जल पिलाती हैं। बरसात में पशुओं को हरा चारा विशेष रूप से दिया जाता है। सायर के बाद सर्दी का मौसम आरम्भ हो जाता है।

आस-पास के गांवों से झोटों को लाया जाता है। उनकी भिडंत बड़ी मनोरंजक होती है। लोग रस्से डालकर अपने भैंसे को मैदान में लाते हैं यह लड़ाई भयंकर युद्ध होती है। हारा हुआ भैंसा बड़े वेग से भागता है। यह पशु पालने के लिए प्रोत्साहन स्वरूप प्रदर्शन होता है। विजयी पशु को पुरस्कृत किया जाता है।

ग्राजकल यह मेला दो दिन चलता है। कुश्ती का ग्रायोजन, प्रदर्शनियां ग्रौर स्कूली छात्रों द्वारा सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया जाता है। खेलों का ग्रायोजन भी होता है। ऐसी मान्यता है कि पहाड़ों पर बरसी पहली बौछार का जल एक महीने में समुद्र में पहुंच जाता है। मक्की इस क्षेत्र की प्रमुख फसल है। यह फसल ग्रब तक तैयार होने को होती है। लोग इसके बाद घर खलिहानों को लीप-पोत कर संवारने लगते हैं क्योंकि बरसात के कारण हुई टूट-फूट को ठीक करना होता है। इसके बाद त्योहारों का एक लम्बा सिलसिला ग्रारम्भ होता है। सायर का मेला बरसात के दो तीन महिनों के ग्रन्तराल के बाद होने वाला मेला होता है इसलिए लोगों में बड़ा उत्साह होता है।

आठो जखौली

ग्रश्विन मास के शुक्ल पक्ष की ग्रष्टमी तिथि को जखौली गांव में मन्दिर के प्रांगण में मेला लगता है। जखौली में बना मन्दिर शिखर शैली में वास्तु कला का ग्रनूठा नमूना है। इसकी बनावट इस क्षेत्र में बने हुए ग्रन्य मन्दिरों से भिन्न है। मन्दिर के चारों ग्रोर एक प्रकोष्ठ बना हुग्रा है। यह प्रकोष्ठ लगभग पांच फुट ऊंचा है। मुख्य द्वार पर एक ही पत्थर की चौखट है।

मन्दिर में बाहर गण ग्रादि की रिडियां हैं। मुख्य मूर्तियां श्री जग्गनाथ पुरी के मन्दिर में स्थापित तीन मूर्तियों जैसी है। दो ग्रोर पुरुष ग्राकृतियां ग्रौर बीच में नारी ग्राकृति जो ग्रपेक्षाकृत छोटे ग्राकार में है। इस मन्दिर को बने कितने वर्ष हुए तथा इसका निर्माण किसने करवाया, इस पर एक मत नहीं मिलता। कुछ लोग कहते हैं कि यह मन्दिर 'ग्रपग्न्ना' ग्रर्थात् स्वनिर्मित है। जन श्रुति के ग्रनुसार धरती फटने से यह मन्दिर धीरे-धीरे ऊपर ग्राने लगा था। उसे ऊपर उठता देखकर एक ग्वाले ने बड़ा शोर मचाया ज्योंही लोग एकत्र हुए इसका विकास रुक गया। कुछ भी हो कारीगरी की दक्षता ग्रौर बारीकी का यह उत्कृष्ट उदाहरण है।

यहां दूसरी तरफ पानी का ग्रभूतपूर्व स्रोत है। पानी की एक नहर फूट निकली है यहां। यह पानी घराट बनाने ग्रौर नीचे पड़ने वाली सारी जमीन की सिंचाई में प्रयुक्त होता है। इस पानी के निकलने के पीछे भी कई लोक कथाएं सुनने को मिलती हैं।

जखौली देवी यहां के लोगों की "कुलजा माता" है। लोग नई फसल की भेंट चढ़ाते हैं। नव-जात शिशुग्रों को यहां लाते हैं। राजा साहब बाघल पहले बड़ी धूमधाम से यहां ग्राते थे। यहां साधुग्रों के लिए एक ग्राश्रम बना है। इस दिन लोग यहां हलवा-प्रसाद बनाकर देव पूजा करते हैं तथा एक दूसरे को बांटते हैं। यह स्थान बड़ा मनोरम है। मंदिर व पानी दोनों ही ग्रपने में एक चमत्कार हैं।

बातल का दशहरा

अश्विन मास में शुक्ल पक्ष की, नवरात्रों के बाद दशम् तिथि को, अर्की के बातल गांव में दशहरा बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता है। बातल ब्राह्मणों का बड़ा गांव है जिसे 'छोटी काशी' भी कहते हैं। बाघल के राजा इस मेले का आयोजन राजकीय स्तर पर करवाते थे। यह परम्परा अब भी उसी रूप में चली आ रही है।

अर्की से लक्ष्मी-नारायण मंदिर से ठाकुर का सवारी रथ बड़ी धूम-धाम से बातल लाया जाता है। राजाओं के जमाने में राजा लोग इस शोभा यात्रा का संचालन करते थे। अब बातल से लोग यहां आते हैं तथा देव रथ ले जाते हैं। यह एक जलूस की शक्ल में बातल पहुंचता है। बातल के लोग इसका स्वागत करते हैं। यह जलूस गांव के बीच से निकलकर एक स्थल पर रुक जाता है।

खेतों में दूर एक मचान पर रावण के प्रतीक के रूप में एक घड़ा रखा रहता है। इस घड़े में चांदी का एक रुपया व एक मछली होती है। घड़ा पानी से भरा होता है। इस पर नियत स्थान बन्दूक धारी लोग निशाना लगाते हैं। जब तक यह घड़ा तोड़ नहीं डाला जाता बन्दूकें चलती रहती हैं। पहले राजा साहब बाघल पहला निशाना लगाते थे। उन दिनों जो घड़े को बींध देता था उसे वर्ष का सर्वोत्तम निशानची माना जाता था। शाम को ठाकुर की सवारी फिर उसी तरह अर्की लौट जाती है।

अब मेले के स्वरूप में आधुनिकता का रंग चढ़ता जा रहा है। यह मेला दो दिन चलता है। खेल-कूद की खुली प्रतियोगिता का आयोजन किया जाता है। रात को संगीत का कार्यक्रम होता है जिसमें देश विदेश के अच्छे-अच्छे कलाकार भाग लेते हैं। साथ-साथ फिल्में भी प्रदर्शित की जाती हैं। प्रदर्शनियों का आयोजन भी होता है। मेले में पंचायत के साथ स्थानीय सुधार सभा बड़ी रुचि लेती है। नाटक तथा वाक् प्रतियोगिता भी होती है। यह मेला जहां अपना ऐतिहासिक आधार बनाए हुए है वहीं इसमें सांस्कृतिक रुचि भी लोगों में देखने को मिलती है। बातल के लोग संगीत में अच्छी सूझ-बूझ रखते हैं।

मेला धारड़ू धार

कार्तिक मास में शुक्ल पक्ष की द्वादशी तिथि को अर्की की पलोग पंचायत के धारड़ू धार स्थान पर एक मेला लगता है। यहां धार वाले देवता का स्थान है। धार की पूर्वी ढलान शिमला जिला में पड़ती है। यहां एक ओर चीड़ का घना वन है। पाठशाला के मैदान में मेले का आयोजन होता है।

मेले से पहली रात को गांव खनलग में सारी रात 'बरलाज' गाया जाता है। 'बरलाज' एक गेय राम कथा का रूप है जिसे अपनी भाषा में लोक गायक गाते हैं। सर्दियों का मौसम होता है। गांव की चौपाल में एक जगह लकड़ियों का ऊंचा ढेर लगा दिया जाता है। सारी रात आग के इर्द-गिर्द लोक

गायक राम कथा गाते रहते हैं और गांव के लोग सुनते रहते हैं। सवेरे 'बरलाज' पूजा कर गांव के लोग नगाड़ा-ढोल बजाते मेला स्थल की ओर रवाना होते हैं।

मेला स्थल पर पहुंचकर देव पूजा होती है। उसके बाद लोग मेले में शरीक होते हैं। मेले का मुख्य आकर्षण यही देव पूजन है। स्थानीय लोग बड़ी श्रद्धा से यहां आते हैं। कई वर्ष पहले यहां के लोग मायली मेले में इसी प्रकार जाया करते थे परन्तु अब सामूहिक रूप में भाग नहीं लेते।

आस-पास के स्कूलों के छात्र सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत करते हैं। दोपहर बाद दंगल का आयोजन होता है। कुश्ती यहां के लोगों का अच्छा शौक है।

रात को 'करयाले' का आयोजन होता है। यह खुला स्वांग नाटक दूसरी सुबह तक चलता रहता है। सरकार की ओर से मेले में कृषि प्रदर्शनी लगाई जाती है जिसमें स्थानीय किसान विशेष रुचि लेते हैं।

यहां के स्वतन्त्रता सेनानी स्वर्गीय श्री मनसा राम चौहान का बुत भी यहां स्थापित किया गया है। लोगों की चहल-पहल से यह वीरान स्थान दो दिन आकर्षण का केन्द्र बना रहता है।

मांजू मेला

चौदह नवम्बर को मांजू गांव में एक मेला लगता है। मेले का स्थल पाठशाला का मैदान है। वहीं एक पहाड़ी पर मढोड़ देवता का मंदिर है। यह मेला धार्मिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक सभी रंगों से सराबोर है। यह मेला दो दिन में सम्पन्न होता है।

मढोड़ यहां के लोगों का कुल देवता है। उसकी पूजा कर लोग सुखद भविष्य की कामना करते हैं। मांजू गांव की पूरी परिक्रमा कर लोग हाथों में ध्वज उठाये ढोल-नगाड़े बजाते थाईयों (देव-स्थलों) में धूप जलाकर, मत्था टेक कर मढ़ोड़ देवता के मंदिर में पहुंचते हैं। उसके बाद मेला शुरु होता है। मंदिर के बाहर ध्वजा फहराई जाती है तथा देव पूजा होती है।

स्कूल के छात्रों द्वारा खेलों तथा सांस्कृतिक कार्यक्रम का प्रदर्शन किया जाता है। खेलों की खुली प्रतियोगिता भी होती है। रात को नाटक, फिल्म आदि का आयोजन रहता। यह पहले दिन का कार्यक्रम रहता है। दूसरे दिन खेलों के साथ-साथ कुश्ती का आयोजन भी होता है। रात को खुले मंच पर करयाला (स्वांग नाटक) से लोगों का मनोरंजन किया जाता है।

लोग इस समय मक्की की फसल भर चुके होते हैं। अभी गेहूं की बिजाई की तैयारी नहीं होती अतः लोगों के मनोरंजन के लिए उपयुक्त समय होता है। यदा कदा प्रदर्शनियां भी लगाई जाती हैं। मेले

का प्रबन्ध स्थानीय ग्राम पंचायत द्वारा अनुमोदित चुनी गई एक कमेटी करती है। कई वर्ष इसे दशहरे के रूप में भी मनाया जाता रहा। परन्तु धार्मिक अनुष्ठानों के साथ इसमें नाटक तथा खेलकूद प्रतियोगिताएं ही पांव जमा सकी हैं। जहां बुजुर्ग लोग देव-पूजन, कुश्ती तथा करियाले में रुचि लेते हैं वहीं युवा वर्ग खेल-कूद तथा नाटक सिनेमा में व्यस्त रहते हैं। बच्चों को मिठाई तथा पुरस्कार वितरित किये जाते हैं।

लुटरू महादेव शिवरात्रि

फाल्गुन मास में शिवरात्रि को अर्कीधार पर मेला लगता है। यह स्थान अर्की शहर के ऊपर निर्जन स्थान पर है। यहां एक प्राकृतिक गुफा है। काफी चढ़ाई के बाद इस गुफा द्वार तक पहुंचते हैं।

गुफा के अन्दर काफी खुला स्थान है। एक ओर महात्मा का आसन धूना है और दूसरी ओर प्राकृतिक शिवलिंग, जिस पर जल गिरता रहता है। गुफा के पूर्वोत्तर कोण में एक प्राकृतिक गवाक्ष है। गुफा में बैठकर ऐसा नहीं लगता कि आप गुफा में बैठे हैं। गवाक्ष के प्रकाश से यहां अन्धकार नहीं रहता।

लोग दिन भर यहां फलाहार चढ़ाते हैं। भजन-कीर्त्तन चलता है। लोग टोलियों में गाते-बजाते आते रहते हैं। अर्की से यहां तक पहुंचने के लिए अच्छा रास्ता बनाया गया है। यहां बिजली पानी की व्यवस्था भी है। पानी तो कभी-कभी नहीं आता क्योंकि बीच में व्यवधान हो जाता है। बिजली की सुविधा है और रात भर गुफा के बाहर प्रकाश रहता है। सीधी चढ़ाई पार करने के लिए पक्की पौड़ियां बनी हैं।

स्वतन्त्रता से पहले यहां राजा साहब बाघल की ओर से एक पुजारी नियुक्त रहता था जो नित्य प्रति शकनी जल स्रोत से पानी लाकर यहां जलहरी भर शिव पूजा करता था। अब यहां साधु-महात्मा टिके रहते हैं। इस जनपद में शिव की पूजा विशेष रूप से होती है। इसलिए शिवरात्रि का मेला बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता है। इस दिन अधिकांश लोग व्रत रखते हैं और रात भर कीर्त्तन भजन गाते हैं। शिवरात्रि के दिन यहां स्थानाभाव बहुत खटकता है।

राजकीय माध्यमिक पाठशाला बखालग
तहसील अर्की, जिला सोलन
(हिमाचल प्रदेश)

हिमाचल का किन्नर नर्तक दल

सचिव, हिमाचल कला-संस्कृति और भाषा अकादमी, शिमला द्वारा प्रकाशित तथा
जोशी मुद्रणालय, लाजपतराय मार्ग, शिमला 171 001 द्वारा मुद्रित।